पूज्यपाद संत श्री
आसारामजी बापू के
सत्संग-प्रवचन
गीता प्रसाद
सातवाँ अध्याय

गीता प्रसाद

अनुक्रम

निवेदन

श्री वेदव्यास ने महाभारत में गीता का वर्णन करने के उपरान्त कहा हैः

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सुता।।

'गीता सुगीता करने योग्य है अर्थात् श्री गीता को भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भाव सहित अंतःकरण में धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं श्री पद्मनाभ विष्णु भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई है, फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है?'

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीता में सारे शास्त्रों का सार भार हुआ है। इसे सारे शास्त्रों का खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीता का भलीभाँति ज्ञान हो जाने पर सब शास्त्रों का तात्त्विक ज्ञान अपने आप हो सकता है। उसके लिए अलग से परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती।

वराहपुराण में गीता का महिमा का बयान करते-करते भगवान ने स्वयं कहा हैः

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम्।।

'मैं गीता के आश्रय में रहता हूँ। गीता मेरा श्रेष्ठ घर है। गीता के ज्ञान का सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ।'

श्रीमद् भगवदगीता केवल किसी विशेष धर्म या जाति या व्यक्ति के लिए ही नहीं, वरन् मानवमात्र के लिए उपयोगी व हितकारी है। चाहे किसी भी देश, वेश, समुदाय, संप्रदाय, जाति, वर्ण व आश्रम का व्यक्ति क्यों न हो, यदि वह इसका थोड़ा-सा भी नियमित पठन-पाठन करें तो उसे अनेक अनेक आश्चर्यजनक लाभ मिलने लगते हैं।

गीता का परम लक्ष्य है मानवमात्र का कल्याण करना। किसी भी स्थिति में इन्सान को चाहिए कि वह ईश्वर-प्राप्ति से वंचित न रह जाए क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है लेकिन भ्रमवश मनुष्य भौतिक सुख-सुविधाओं के वशीभूत होकर नाना प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के प्रयासों में उलझ जाता है और सिवाय दुःखों के उसे अन्य कुछ नहीं मिलता। भगवद् गीता इसी भ्रम-भेद को मिटाकर एक अत्यधिक सरल, सहज व सर्वोच्च

दिव्य ज्ञानयुक्त पथ का प्रदर्शन करती है। गीता के अमृतवचनों का आचमन करने से मनुष्य को भोग व मोक्ष दोनों की ही प्राप्ति होती है।

कनाडा के प्राइम मिनिस्टर मि. पीअर ट्रुडो ने जब गीता पढ़ी तो वे दंग रहे गये। मि. पीअर. ट्रुडो ने कहाः

"मैंने बाइबिल पढ़ी, एंजिल पढ़ा, और भी कई धर्मग्रन्थ पढ़े। सब ग्रन्थ अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं लेकिन हिन्दुओं का यह श्रीमद् भगवद गीता रूपी ग्रन्थ तो अदभुत है ! इसमें किसी भी मत-मजहब, पंथ, संप्रदाय की निंदा स्तुति नहीं है बल्कि इसमें तो मनुष्यमात्र के विकास की बात है। शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न और बुद्धि में समत्व योग का, ब्रह्मज्ञान का प्रकाश जगानेवाला ग्रन्थ भगवद् गीता है... गीता केवल हिन्दुओं का ही धर्मग्रन्थ नहीं है, मानवमात्र का धर्मग्रन्थ है। Geeta is not the Bible of Hindus, but it is the Bible of humanity."

गीता में ऐसा उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके रचयिता को हजारों वर्ष बीत गये हैं किन्तु उसके बाद दूसरा ऐसा एक भी ग्रन्थ आज तक नहीं लिखा गया है। 18 अध्याय एवं 700 श्लोकों में रचित तथा भक्ति, ज्ञान, योग एवं निष्कामता आदि से भरपूर यह गीता ग्रन्थ विश्व में एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसकी जयंती मनायी जाती है।

गीता मानव में से महेश्वर का निर्माण करने की शक्ति रखती है। गीता मृत्यु के पश्चात नहीं, वरन् जीते-जी मुक्ति का अनुभव कराने का सामर्थ्य रखती है। जहाँ हाथी चिंघाड़ रहे हों, घोड़े हिनहिना रहे हों, रणभेरियाँ भज रही हों, अनेकों योद्धा दूसरे पक्ष के लिए प्रतिशोध की आग में जल रहे हों ऐसी जगह पर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता की शीतल धारा बहायी है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के माध्यम से अरण्य की विद्या को रण के मैदान में ला दिया। शांत गिरि-गुफाओं के ध्यानयोग को युद्ध के कोलाहल भरे वातावरण में भी समझा दिया। उनकी कितनी करूणा है ! गीता भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निकला हुआ वह परम अमृत है जिसको पाने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं।

.....और गीता की जरूरत केवल अर्जुन को हो थी ऐसी बात नहीं है। हम सब भी युद्ध के मैदान में ही हैं। अर्जुन ने तो थोड़े ही दिन युद्ध किया किन्तु हमारा त सारा जीवन काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, मेरा-तेरारूपी युद्ध के बीच ही है। अतः अर्जुन को गीता की जितनी जरूरत थी, शायद उससे भी ज्यादा आज के मानव को उसकी जरूरत है।

श्रीमद् भगवद् गीता के ज्ञानामृत के पान से मनुष्य के जीवन में साहस, सरलता, स्नेह, शांति और धर्म आदि दैवी गुण सहज में ही विकसित हो उठते हैं। अधर्म, अन्याय एवं शोषण

मुकाबला करने का सामर्थ्य आ जाता है। भोग एवं मोक्ष दोनों ही प्रदान करने वाला, निर्भयता आदि दैवी गुणों को विकसित करनेवाला यह गीता ग्रन्थ पूरे विश्व में अद्वितिय है।

हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि पूज्यपाद संत श्री आसाराम जी महाराज के पावन मुखारविन्द से निःसृत श्रीमद् भगवद् गीता के सातवें अध्याय की सरल, सहज एवं स्पष्ट व्याख्या को 'गीता प्रसाद' के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं....

श्री योग वेदान्त सेवा समिति,

अमदावाद आश्रम।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

गीता के सातवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान शिव कहते हैं – पार्वती ! अब मैं सातवें अध्याय का माहात्म्य बतलाता हूँ, जिसे सुनकर कानों में अमृत-राशि भर जाती है। पाटलिपुत्र नामक एक दुर्गम नगर है, जिसका गोपुर (द्वार) बहुत ही ऊँचा है। उस नगर में शंकुकर्ण नामक एक ब्राह्मण रहता था, उसने वैश्य-वृत्ति का आश्रय लेकर बहुत धन कमाया, किंतु न तो कभी पितरों का तर्पण किया और न देवताओं का पूजन ही। वह धनोपार्जन में तत्पर होकर राजाओं को ही भोज दिया करता था।

एक समय की बात है। एक समय की बात है। उस ब्राह्मण ने अपना चौथा विवाह करने के लिए पुत्रों और बन्धुओं के साथ यात्रा की। मार्ग में आधी रात के समय जब वह सो रहा था, तब एक सर्प ने कहीं से आकर उसकी बाँह में काट लिया। उसके काटते ही ऐसी अवस्था हो गई कि मणि, मंत्र और औषधि आदि से भी उसके शरीर की रक्षा असाध्य जान पड़ी। तत्पश्चात कुछ ही क्षणों में उसके प्राण पखेरु उड़ गये और वह प्रेत बना। फिर बहुत समय के बाद वह प्रेत सर्पयोनि में उत्पन्न हुआ। उसका वित्त धन की वासना में बँधा था। उसने पूर्व वृत्तान्त को स्मरण करके सोचाः

'मैंने घर के बाहर करोड़ों की संख्या में अपना जो धन गाड़ रखा है उससे इन पुत्रों को वंचित करके स्वयं ही उसकी रक्षा करूँगा।'

साँप की योनि से पीड़ित होकर पिता ने एक दिन स्वप्न में अपने पुत्रों के समक्ष आकर अपना मनोभाव बताया। तब उसके पुत्रों ने सवेरे उठकर बड़े विस्मय के साथ एक-दूसरे से स्वप्न की बातें कही। उनमें से मंझला पुत्र कुदाल हाथ में लिए घर से निकला और जहाँ उसके पिता सर्पयोनि धारण करके रहते थे, उस स्थान पर गया। यद्यपि उसे धन के स्थान का ठीक-ठीक

पता नहीं था तो भी उसने चिह्नों से उसका ठीक निश्चय कर लिया और लोभबुद्धि से वहाँ पहुँचकर बाँबी को खोदना आरम्भ किया। तब उस बाँबी से बड़ा भयानक साँप प्रकट हुआ और बोलाः

'ओ मूढ ! तू कौन है? किसलिए आया है? यह बिल क्यों खोद रहा है? किसने तुझे भेजा है? ये सारी बातें मेरे सामने बता।'

पुत्रः "मैं आपका पुत्र हूँ। मेरा नाम शिव है। मैं रात्रि में देखे हुए स्वप्न से विस्मित होकर यहाँ का सुवर्ण लेने के कौतूहल से आया हूँ।"

पुत्र की यह वाणी सुनकर वह साँप हँसता हुआ उच्च स्वर से इस प्रकार स्पष्ट वचन बोलाः "यदि तू मेरा पुत्र है तो मुझे शीघ्र ही बन्धन से मुक्त कर। मैं अपने पूर्वजन्म के गाड़े हुए धन के ही लिए सर्पयोनि में उत्पन्न हुआ हूँ।"

पुत्रः "पिता जी! आपकी मुक्ति कैसे होगी? इसका उपाय मुझे बताईये, क्योंकि मैं इस रात में सब लोगों को छोड़कर आपके पास आया हूँ।"

पिताः "बेटा ! गीता के अमृतमय सप्तम अध्याय को छोड़कर मुझे मुक्त करने में तीर्थ, दान, तप और यज्ञ भी सर्वथा समर्थ नहीं हैं। केवल गीता का सातवाँ अध्याय ही प्राणियों के जरा मृत्यु आदि दुःखों को दूर करने वाला है। पुत्र ! मेरे श्राद्ध के दिन गीता के सप्तम अध्याय का पाठ करने वाले ब्राह्मण को श्रद्धापूर्वक भोजन कराओ। इससे निःसन्देह मेरी मुक्ति हो जायेगी। वत्स ! अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण श्रद्धा के साथ निर्व्यसी और वेदविद्या में प्रवीण अन्य ब्राह्मणों को भी भोजन कराना।"

सर्पयोनि में पड़े हुए पिता के ये वचन सुनकर सभी पुत्रों ने उसकी आज्ञानुसार तथा उससे भी अधिक किया। तब शंकुकर्ण ने अपने सर्पशरीर को त्यागकर दिव्य देह धारण किया और सारा धन पुत्रों के अधीन कर दिया। पिता ने करोड़ों की संख्या में जो धन उनमें बाँट दिया था, उससे वे पुत्र बहुत प्रसन्न हुए। उनकी बुद्धि धर्म में लगी हुई थी, इसलिए उन्होंने बावली, कुआँ, पोखरा, यज्ञ तथा देवमंदिर के लिए उस धन का उपयोग किया और अन्नशाला भी बनवायी। तत्पश्चात सातवें अध्याय का सदा जप करते हुए उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

हे पार्वती ! यह तुम्हें सातवें अध्याय का माहात्म्य बतलाया, जिसके श्रवणमात्र से मानव सब पातकों से मुक्त हो जाता है।"

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

गीता प्रसाद

नारायण..... नारायण..... नारायण....

श्रीमद् भगवद् गीता के सातवें अध्याय के पहले एवं दूसरे श्लोक में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।

'हे पार्थ ! मुझमें अनन्य प्रेम से आसक्त हुए मन वाला और अनन्य भाव से मेरे परायण होकर, योग में लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन।'

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यवशिष्यते।।

"मैं तेरे लिए इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञान को संपूर्णता से कहूँगा कि जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है।"

मय्यासक्तमनाः अर्थात् मुझमें आसक्त हुए मनवाला।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि 'मुझमें' यानि भगवान के 'मैं' का ठीक अर्थ समझा जाये। अगर भगवान के 'मैं' का सही अर्थ नहीं समझा और हममें आसक्ति है तो हम भगवान के किसी रूप को 'भगवान' समझेंगे। यदि हममें द्वेष है तो हम कहेंगे कि 'भगवान कितने अहंकारी हैं?' इस प्रकार अगर हमारे चित्त में राग होगा तो हम श्री कृष्ण की आकृति को पकड़ेंगे और अगर द्वेष होगा तो श्री कृष्ण को अहंकारी समझेंगे।

श्री कृष्ण कह रहे हैं **'मुझमें आसक्त...'** जब तक श्री कृष्ण का 'मैं' समझ में नहीं आता अथवा जब तक श्री कृष्ण के 'मैं' की तरफ नज़र नहीं है तब तक श्री कृष्ण के इशारे को हम ठीक से नहीं समझ सकते। सच पूछो तो श्री कृष्ण का 'मैं' वास्तव में सबका 'मैं' है।

श्रीकृष्ण ने गीता ने कही नहीं वरन् श्री कृष्ण द्वारा गीता गूँज गयी। हम जो कुछ करते हैं। इस प्रकार करने वाले परिच्छिन्न को मौजूद रखकर कुछ कहें। श्री कृष्ण के जीवन में अत्यन्त सहजता है, स्वाभाविकता है। तभी तो वे कहते सकते हैं-

'मय्यासक्तमना.....बनो'

'आसक्ति..... प्रीति....' शब्द तो छोटे हैं, बेचारे हैं। अर्थ हमें लगाना पड़ता है। जो हमारी बोलचाल की भाषा है वही श्रीकृष्ण बोलेंगे.. जो हमारी बोलचाल की भाषा है वही गुरु बोलेंगे। भाषा तो बेचारी अधूरी है। अर्थ भी उसमें हमारी बुद्धि के अनुसार लगता है। लेकिन हमारी बुद्धि जब हमारे व्यक्तित्व का, हमारे देह के दायरे का आकर्षण छोड़ देती है तब हम कुछ-कुछ समझने के काबिल हो पाते हैं और जब समझने का काबिल होते हैं तब यही समझा जाता है कि हम जो समझते हैं, वह कुछ नहीं। आज तक हमने जो कुछ जाना है, जो कुछ समझा है, वह कुछ नहीं है। क्योंकि जिसको जानने से सब जाना जाता है उसे अभी तक हमने नहीं जाना। जिसको पाने से सब पाया जाता है उसको नहीं पाया।

बुद्धि में जब तक पकड़ होती है तब तक कुछ जानकारियाँ रखकर हम अपने को जानकर, विद्वान या ज्ञानी मान लेते हैं। अगर बुद्धि में परमात्मा के लिए प्रेम होता है, आकांक्षाएँ नहीं होती हैं तो हमने जो कुछ जाना है उसकी कीमत कुछ नहीं लगती वरन् जिससे जाना जाता है उसको समझने के लिए हमारे पास समता आती है। भाषा तो हो सकती है कि हम 'ईश्वर से प्रेम करते हैं' किन्तु सचमुच में ईश्वर से प्रेम है कि पदार्थों को सुरक्षित रखने के लिए हम ईश्वर का उपयोग करते हैं? हमारी आसक्ति परमात्मा में है कि नश्वर चीजों को पाने में है? जब तक नश्वर चीजों में आसक्ति होगी, नश्वर चीजों में प्रीति होगी और मिटनेवालों का आश्रय होगा तब तक अमिट तत्त्व का बोध नहीं होगा और जब तक अमिट तत्त्व का बोध नहीं होगा तब तक जन्म-मरण क चक्र भी नहीं मिटेगा।

श्री कृष्ण कहते हैं- मय्यासक्तमनाः पार्थ.... यदि सचमुच ईश्वर में प्रीति हो जाती है तो ईश्वर से हम नश्वर चीजों की माँग ही नहीं करते। ईश्वर से, संत से यदि स्नेह हो जाये तो भगवान का जो भगवद् तत्त्व है, संत का जो संत तत्त्व है, वह हमारे दिल में भी उभरने लगता है।

हमारे चित्त में होता तो है संसार का राग और करते हैं भगवान का भजन... इसीलिए लम्बा समय लग जाता है। हम चाहते हैं उस संसार को जो कभी किसी का नहीं रहा, जो कभी किसी का तारणहार नहीं बना और जो कभी किसी के साथ नहीं चला। हम मुख मोड़ लेते हैं उस परमात्मा से जो सदा-सर्वदा-सर्वत्र सबका आत्मा बनकर बैठा है। इसीलिए भगवान कहते हैं-
'यदि तुम्हारा चित्त मुझमें आसक्त हो जाये तो मैं तुम्हें वह आत्मतत्त्व का रहस्य सुना देता हूँ।'

जब तक ईश्वर में प्रीति नहीं होती तब तक वह रहस्य समझ में नहीं आता। श्री वशिष्ठ जी महाराज कहते हैं- 'हे राम जी! तृष्णावान के हृदय में संत के वचन नहीं ठहरते। तृष्णावान से तो वृक्ष भी भय पाते हैं' इच्छा-वासना-तृष्णा आदमी की बुद्धि को दबा देती है।

दो प्रकार के लोग होते हैं- एक तो वे जो चाहते हैं कि 'हम कुछ ऐसा पा लें जिसे पाने के बाद कुछ पाना शेष न रहे।' दूसरे वे लोग होते हैं जो चाहते हैं कि 'हम जो चाहें वह हमें मिलता रहे।' अपनी चाह के अनुसार जो पाना चाहते हैं ऐसे व्यक्तियों की इच्छा कभी पूरी नहीं होती क्योंकि एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा खड़ी होती है और इस प्रकार इच्छा पूरी करते-करते जीवन ही पूरा हो जाता है। दूसरे वे लोग होते हैं जिनमें यह जिज्ञासा होती है किः 'ऐसा कुछ पा लें कि जिसे पाने के बाद और कुछ पाना शेष न रहे।' ऐसे लोग विरले ही होते हैं। ऐसे लोग ठीक से इस बात को समझते हैं किः 'ईश्वर के सिवाय, उस आत्मदेव के सिवाय और जो कुछ भी हमने जाना है उसकी कीमत दो कौड़ी की भी नहीं है। मृत्यु के झटके में वह सब पराया हो जायेगा।'

पाश्चात्य जगत बाहर के रहस्यों को खोजता है। एक-एक विषय की एक-एक कुंजी खोजता है जबकि भारत का अध्यात्म जगत सब विषयों की एक ही कुंजी खोजता है, सब दुःखों की एक ही दवाई खोजता है, परमात्मस्वरूप खोजता है।

सब दुःखों की एक दवाई
अपने आपको जानो भाई।।

श्री कृष्ण का इशारा सब दुःखों की एक दवाई पर ही है जबकि पाश्चात्य जगत का विश्लेषण एक-एक विषय की कुंजी खोजते-खोजते भिन्न-भिन्न विषयों और कुंजियों में बँट गया।

भारत का आत्मज्ञान एक ऐसी कुंजी है जिससे सब विषयों के ताले खुल जाते हैं। संसार की ही नहीं, जन्म मृत्यु की समस्याएँ भी खत्म हो जाती हैं। लेकिन इस परमात्मस्वरूप के वे ही अधिकारी हैं जिनकी प्रीति भगवान में हो। भोगों में जिनकी प्रीति होती है और मिटने वाले का आश्रय लेते हैं ऐसे लोगों के लिए परमात्मस्वरूप अपना आपा होते हुए भी पराया हो जाता है और भोगों में जिनकी रूचि नहीं है, मिटनेवाले को मिटनेवाला समझते हैं एवं अमिट की जिज्ञासा है वे अपने परमात्मस्वरूप को पा लेते हैं। यह परमात्मस्वरूप कहीं दूर नहीं है। भविष्य में मिलेगा ऐसा भी नहीं है.... साधक लोग इस आत्मस्वरूप को पाने के लिए अपनी योग्यता बढ़ाते हैं। जो अपने जीवन का मूल्य समझते हैं ऐसे साधक अपनी योग्यता एवं बुद्धि का विकास करके,

प्राणायाम आदि करके, साधन-भजन-जपादि करके परमात्म-स्वरूप को पाने के काबिल भी हो जाते हैं।

ध्यान में जब बैठें तब दो-चार गहरी-गहरी लम्बी श्वास लें। फिर श्वास एकदम न छोड़ दें। श्वास छोड़ने के साथ मिटने वाले पदार्थों की आकांक्षा छोड़ते जाएं... श्वास छोड़ने के साथ अपने 'स्व' के अलावा जो कुछ जानकारी है उसे छोड़ते जायें.... यह भावना भरते जायें कि 'अब मैं निखालस परमात्मा में स्थिति पाने वाला हो गया हूँ। मेरे जीवन का लक्ष्य केवल परमात्मा है। जिसकी कृपा से सारा जहाँ है उसी की कृपा से मेरा यह शरीर है, मन है बुद्धि है। मैं उसका हूँ.... वह मेरा है...' ऐसा सोचकर जो भगवान का ध्यान, भजन, चिन्तन करता है उसकी प्रीति भगवान में होने लगती है और उसे परमात्मस्वरूप मिलने लगता है।

दूसरी बातः मिटनेवाले पदार्थों के लिए हजार-हजार परिश्रम किये फिर भी जीवन में परेशानियाँ तो आती ही हैं... ऐसा सोचकर थोड़ा समय अमिट परमात्मा के लिए अवश्य लगायें।

किसी सेठ के पास एक नौकर गया। सेठ ने पूछाः "रोज के कितने रुपये लेते हो?"

नौकरः "बाबू जी ! वैसे तो आठ रूपये लेता हूँ। फिर आप जो दे दें।"

सेठः "ठीक है, आठ रुपये दूँगा। अभी तो बैठो। फिर जो काम होगा, वह बताऊँगा।"

सेठ जी किसी दूसरे काम में लग गये। उस नये नौकर को काम बताने का मौका नहीं मिल पाया। जब शाम हुई तब नौकर ने कहाः "सेठ जी! लाइये मेरी मजदूरी।"

सेठः "मैंने काम तो कुछ दिया ही नहीं, फिर मजदूरी किस बात की?"

नौकरः "बाबू जी ! आपने भले ही कोई काम नहीं बताया किन्तु मैं बैठा तो आपके लिए ही रहा।"

सेठ ने उसे पैसे दे दिये।

जब साधारण मनुष्य के लिए खाली-खाली बैठे रहने पर भी वह मजदूरी दे देता है तो परमात्मा के लिए खाली बैठे भी रहोगे तो वह भी तुम्हें दे ही देगा। 'मन नहीं लगता.... क्या करें?' नहीं, मन नहीं लगे तब भी बैठकर जप करो, स्मरण करो। बैठोगे तो उसके लिए ही न? फिर वह स्वयं ही चिंता करेगा।

तीसरी बातः हम जो कुछ भी करें, जो कुछ भी लें, जो कुछ भी दें, जो कुछ भी खायें, जहाँ कहीं भी जायें.... करें भले ही अनेक कार्य किन्तु लक्ष्य हमारा एक हो। जैसे शादी के बाद बहू सास की पैरचंपी करती है। ससुर को नाश्ता बनाकर देती है। जेठानी-देवरानी का कहा कर लेती है। घर में साफ-सफाई भी करती है, रसोई भी बनाती है, परन्तु करती है किसके नाते? पति

के नाते। पति के साथ संबंध होने के कारण ही सास-ससुर, देवरानी-जेठानी आदि नाते हैं। ऐसे ही तुम भी जगत के सारे कार्य तो करो किन्तु करो उस परम पति परमात्मा के नाते ही। यह हो गयी भगवान में प्रीति।

अन्यथा क्या होगा?

एक ईसाई साध्वी (Nun) सदैव ईसा की पूजा-अर्चना किया करती थी। एक बार उसे कहीं दूसरी जगह जाना पड़ा तो वह ईसा का फोटो एवं पूजादि का सामान लेकर गयी। उस दूसरी जगह पर जब वह पूजा करने बैठी और उसने मोमबत्ती जलाई तो उसे हुआ कि 'इस मोमबत्ती का प्रकाश इधर-उधर चला जायेगा। मेरे ईसा को तो मिल नहीं पायेगा।' अतः उसने इधर-उधर पर्दे लगा दिए ताकि केवल ईसा को ही प्रकाश मिले। तो यह आसक्ति, यह प्रीति ईसा में नहीं, वरन् ईसा की प्रतिमा में हुई। अगर ईसा में प्रीति होती तो ईसा तो सब में है तो फिर प्रकाश भी तो सर्वत्र स्थिर ईसा के लिए ही हुआ न !

चित्त में अगर राग होता है और हम भक्ति करते हैं तब भी गड़बड़ हो जाती है। चित्त द्वेष रखकर भक्ति करते हैं तब भी गड़बड़ हो जाती है। भक्ति के नाम पर भी लड़ाई और 'मेरा-तेरा' शुरु हो जाता है क्योंकि भगवान के वास्तविक 'मैं' को हम जानते ही नहीं। जब तक अपने 'मैं' को नहीं खोजा तब तक ईश्वर के 'मैं' का पता भी नहीं चलता। इसीलए श्री कृष्ण कहते हैं-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।

'संशयरहित होकर मुझे जिस प्रकार तुम जानोगे, वह सुनो।' भगवान का समग्र स्वरूप जब तक समझ में नहीं आता तब तक पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। ईश्वर के किसी एक रूप को प्रारम्भ में भले आप मानो....... वह आपके चित्त की वृत्ति को एक केन्द्र में स्थिर करने में सहायक हो सकता है लेकिन ईश्वर केवल उतना ही नहीं जितना आपकी इन आँखों से प्रतिमा के रूप में दिखता है। आपका ईश्वर तो अनंत ब्रह्माण्डो में फैला हुआ है, सब मनुष्यों को, प्राणियों को, यहाँ तक कि सब देवी-देवताओं को भी सत्ता देने वाला, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वदा व्याप्त है।

जो ईश्वर सर्वदा है वह अभी भी है। जो सर्वत्र है वह यहाँ भी है। जो सबमें है वह आपमें भी है। जो पूरा है वह आपमें भी पूरे का पूरा है। जैसे, आकाश सर्वदा, सर्वत्र, सबमें और पूर्ण है। घड़े में आकाश घड़े की उपाधि के कारण घटाकाश दिखता है और मठ का आकाश मठ की उपाधि होते हुए भी वह महाकाश से मिला जुला है। ऐसे ही आपके हृदय में, आपके घट में जो

घटाकाशरूप परमात्मा है वही परमात्मा पूरे-का-पूरा अनंत ब्रह्माण्डों में है। ऐसा समझकर यदि उस परमात्मा को प्यार करो तो आप परमात्मा के तत्त्व को जल्दी समझ जाओगे।

चौथी बातः जो बीत गया उसकी चिन्ता छोड़ो। सुख बीता या दुःख बीता... मित्र की बात बीती या शत्रु की बात बीती... जो बीत गया वह अब आपके हाथ में नहीं है और जो आयेगा वह भी आपके हाथ में नहीं है। अतः भूत और भविष्य की कल्पना छोड़कर सदा वर्त्तमान में रहो। मजे की बात तो यह है कि काल सदा वर्त्तमान ही होता है। वर्त्तमान में ठहर कर आगे की कल्पना करो तो भविष्यकाल और पीछे की कल्पना करो तो भूतकाल होता है। आपकी वृत्तियाँ आगे और पीछे होती हैं तो भूत और भविष्य होता है। 'भूत और भविष्य' जिन कल्पनाओं से बनता है उस कल्पना का आधार है मेरा परमात्मा। ऐसा समझकर भी उस परमात्मा से प्रीति करो तो आप '**मय्यासक्तमना**' हो सकते हो।

पाँचवी बातः मन चाहे दुकान पर जाये या मकान पर, पुत्र पर जाये या पत्नी पर, मंदिर में जाये या होटल पर... मन चाहे कहीं भी जाये किन्तु आप यही सोचो कि 'मन गया तो मेरे प्रभु की सत्ता से न ! मेरी आत्मा की सत्ता से न !' – ऐसा करके भी उसे आत्मा में ले आओ। मन के भी साक्षी हो जाओ। इस प्रकार बार-बार मन को उठाकर आत्मा में ले आओ तो परमात्मा में प्रीति बढ़ने लगेगी।

अगर आप सड़क पर चल रहे हो तो आपकी नज़र बस, कार, साइकिल आदि पर पड़ती ही है। अब, बस दिखे तो सोचो कि 'बस को चलाने वाले ड्राइवर को सत्ता कहाँ से मिल रही हैं? परमात्मा से। अगर मेरे परमात्मा की चेतना न होती तो ड्राइवर ड्राइविंग नहीं कर सकता। अतः मेरे परमात्मा की चेतना से ही बस भागी जा रही है...' इस प्रकार दिखेगी तो बस लेकिन आपका मन यदि ईश्वर में आसक्त है तो आपको उस समय भी ईश्वर की स्मृति हो सकती है।

छठवीं बातः निर्भय बनो। अगर '**मय्यासक्तमना**' होना चाहते हो तो निर्भयता होनी ही चाहिए। भय शरीर को 'मैं' मानने से होता है और मन में होता है जो एक दिन नष्ट हो जाने वाला है, उस शरीर को नश्वर जानकर एवं जिसकी सत्ता से शरीर कार्यरत है, उस शाश्वत परमात्मा को ही 'मैं' मानकर निर्भय हुआ जा सकता है।

सातवीं बातः प्रेमी की अपनी कोई माँग नहीं होती है। प्रेमी केवल अपने प्रेमास्पद का मंगल ही चाहता है। 'प्रेमास्पद को हम कैसे अनुकूल हो सकते हैं?' यही सोचता है प्रेमी या भक्त। तभी वह '**मय्यासक्तमना**' हो पाता है। जो अपनी किसी भी माँग के बिना अपने इष्ट के लिए सब

कुछ करने को तैयार होता है, ऐसा व्यक्ति भगवान के रहस्य को समझने का भी अधिकारी हो जाता है। तभी भगवान कहते हैं-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।

'हे पार्थ ! मुझमें अनन्य प्रेम से आसक्त हुए मन वाला और अनन्य भाव से मेरे परायण होकर, योग में लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन।'

श्रीमद् भगवद् गीता के सातवें अध्याय के दूसरे श्लोक में आता हैः

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यवशिष्यते।।

"मैं तेरे लिए इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञान को संपूर्णता से कहूँगा कि जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है।"

उद्दालक ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु अठारह पुराणों एवं वेद की ऋचाओं आदि का अध्ययन करके घर वापस आया। तब पिता उसे देखते ही समझ गये कि, 'यह कुछ अक्ल बढ़ाकर आया है। होम-हवनादि की विधि सीखकर, शास्त्र-पुराणों का अध्ययन आदि करके तो आया है किन्तु जिससे सब जाना जाता है उस परम तत्त्व को इसने अभी तक नहीं जाना है। यह तो विनम्रता छोड़कर पढ़ाई का अहंकार साथ लेकर आया है।'

पिता ने पूछाः "श्वेतकेतु ! तुमने तमाम विद्याओं को जाना है परन्तु क्या उस एक को जानते हो जिसके जानने से सब जान लिया जाता है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात ज्ञात हो जाता है?"

येनाश्रुतं श्रुतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।।

(छान्दोग्योपनिषद् 6.1.3)

पिता का प्रश्न सुनकर श्वेतकेतु अवाक् हो गया। यह तो उसके गुरु ने पढ़ाया ही नहीं था। उसने कहाः

"पिताजी ! मैं अपने गुरु के आश्रम में सबका प्रिय रहा हूँ। इसलिए जितना गुरुजी जानते थे, वह सब उन्होंने मुझे पढ़ा दिया है किन्तु आप जो पूछ रहे हैं वह मैं नहीं जानता।"

जब तक उस एक परम तत्त्व को न जाना तब तक बुद्धि में, मन में केवल कल्पनाएँ, सूचनाएँ ही भरी जाती हैं और मन-बुद्धि इतने परेशान हो जाते हैं कि उनमें और कुछ रखने की जगह ही नहीं बचती। मन बुद्धि को जहाँ से सत्ता मिलती है उन सत्ताधीश को न जानकर मन-बुद्धि में कल्पनाएँ भर लीं तो यह हुआ ऐहिक ज्ञान और मन-बुद्धि को जहाँ से सत्ता मिलती है उस चैतन्य को 'मैं' रूप में जान लिया तो यह हो गया पारमार्थिक ज्ञान।

श्वेतकेतु केवल ऐहिक विद्या ही पढ़कर आया था। जब वह विनम्र बना, अपनी सीखी हुई विद्या का अहंकार थोड़ा मिटा तब वह उस पारमार्थिक ज्ञान पाने का अधिकारी बना जिसको जानने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। फिर पिता ने उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया।

कल्पनाएँ और सूचनाएँ एकत्रित करके आदमी अहंकारी हो जाता है। सच्चा ज्ञान, पारमार्थिक ज्ञान यदि अर्जित करता है तो आदमी का अहंकार गायब हो जाता है। फिर वह समझने लगता है कि जो कुछ जानकारी है उसकी कोई कीमत नहीं है। सारी जानकारियाँ केवल रोटी कमाने और शरीर को सुख दिलाने के लिए ही हैं। आज का ज्ञान, विज्ञान, आज के प्रमाणपत्र सब दौड़-धूप करने के बाद भी बहुत-से-बहुत शरीर को रोटी-कपड़ा-मकान एवं अन्य ऐहिक सुख में गरकाव करने के लिए है। जिस शरीर को जला देना है उसी शरीर को सँभालने के लिए ही आज का पूरा विज्ञान है।'

बड़े से बड़े वैज्ञानिक को बुला लाओ, अधिक-से-अधिक वैज्ञानिकों को एकत्रित कर लो और उनसे पूछोः

"भगवान के भक्त अथवा सदगुरु के सत् शिष्य को ध्यान के समय जो सुख मिलता है, वह क्या आज तक आपको मिला है? सत् शिष्य को जो शांति मिलती है या आनंद मिलता है वह आपके विज्ञान के सब साधनों को मिलाकर भी मिल सकता है?"

एक बार सुकरात से किसी धनी आदमी ने कहाः

"आप कहें तो मैं आपके लिए लाखों रूपये, लाखों डॉलर खर्च कर सकता हूँ। आप जो चाहे खरीद सकते हैं। बस एक बार मेरे साथ बाजार में चलिए।"

सुकरात उस धनी व्यक्ति के साथ बाजार में घूमने गये। बड़े-बड़े दुकान देखे। फिर दुकान से बाहर निकलकर सुकरात खूब नाचने लगे। सुकरात को नाचते हुए देखकर उस धनी व्यक्ति को

चिन्ता हो गयी कि कहीं वे पागल तो नहीं हो गये? उसने सुकरात से पूछाः "आप क्यों नाच रहे हैं?"

तब सुकरात बोलेः "तुम मेहनत करके डॉलर कमाते हो। डॉलर खर्च करके वस्तुएँ लाते हो और वस्तुएँ लाकर भी सुखी ही तो होना चाहते हो फिर भी तुम्हारे पास सुख नहीं है जो मुझे इन सबके बिना ही मिल रहा है। इसी बात से प्रसन्न होकर मैं नाच रहा हूँ।"

भारत ने सदैव ऐसे सुख पर ही नजर रखी है जिसके लिए किसी बाह्य परिस्थिति की गुलामी करने की आवश्यकता न हो, जिसके लिए किसी का भय न हो और जिसके लिए किसी का शोषण करने की ज़रूरत न हो। बाहर के सुख में तो अनेकों का शोषण होता है। सुख छिन न जाये इसका भय होता है और बाह्य परिस्थितियों की गुलामी भी करनी पड़ती है।

भगवान कहते हैं- 'मैं तेरे लिए विज्ञानसहित ज्ञान को पूर्णतया कहूँगा..."

यह विज्ञानसहित ज्ञान क्या है? आत्मा के बारे में सुनना ज्ञान है। आत्मा एकरस, अखंड, चैतन्य, शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानंदरूप है। देव, मनुष्य, यक्ष, गंधर्व, किन्नर सबमें सत्ता उसी की है' – यह है ज्ञान और इसका अपरोक्ष रूप से अनुभव करना - यह है विज्ञान।

ज्ञान तो ऐसे भी मिल सकता है लेकिन विज्ञान या तत्त्वज्ञान की निष्ठा तो बुद्ध पुरुषों के आगे विनम्र होकर ही पायी जा सकती है। संसार को जानना है तो संशय करना पड़ेगा और सत्य को जानना हो संशयरहित होकर श्रद्धापूर्वक सदगुरु के वचनों को स्वीकार करना पड़ेगा।'

आप गये मन्दिर में। भगवान की मूर्ति को प्रणाम किया। तब आप यह नहीं सोचते कि "ये भगवान तो कुछ बोलते ही नहीं हैं... जयपुर से साढ़े आठ हजार रूपये में आये हैं.... 'नहीं नहीं, वहाँ आपको संदेह नहीं होता है वरन् मूर्ति को भगवान मानकर ही प्रणाम करते हो क्योंकि मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा हो चुकी है। धर्म में सन्देह नहीं, स्वीकार करना पड़ता है और स्वीकार करते-करते आप एक ऐसी अवस्था पर आते हो कि आपकी अपनी जकड़-पकड़ छूटती जाती है एवं आपकी स्वीकृति श्रद्धा का रूप ले लेती है। श्रद्धा का रूप जब किसी सदगुरु के पास पहुँचता है तो फिर श्रद्धा के बल से आप तत्त्वज्ञान पाने के भी अधिकारी हो जाते हो। यही है ज्ञानसहित विज्ञान।

सत्य या तत्त्वज्ञान तर्क से सिद्ध नहीं होता लेकिन सारे तर्क जिससे सिद्ध होते हैं, सारे तर्क जिससे उत्पन्न होकर पुनः जिसमें लीन हो जाते हैं वही है सत्यस्वरूप परमात्मा। उस परमात्मा का ज्ञान तभी होता है जब श्रद्धा होती है, स्वीकार करने की क्षमता होती है और

परमात्मा में प्रीति होती है। जिन्हें परमात्मा का ज्ञान हो जाता है फिर वे निर्द्वन्द्व, निःशंक, निःशोक हो जाते हैं। उनका जीवन बड़ा अदभुत एवं रहस्यमय हो जाता है। ऐसे महापुरुष की तुलना किससे की जाये? अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं- तस्य तुलना केन जायते। जिन्होंने अपनी आत्मा में विश्रान्ति पा ली है जिन्होंने परम तत्त्व के रहस्य को जान लिया है, जिन्होंने ज्ञान सहित विज्ञान को समझ लिया है, उनकी तुलना किससे करोगे? एकमेवाद्वितीयम् का साक्षात्कार किये हुए महापुरुष की तुलना किससे की जा सकती है?

मनु महाराज इक्ष्वाकु राजा से कहते हैं- राजन ! तुम केवल एक बार आत्मपद में जाग जाओ। फिर तुम जो जागतिक आचार करोगे उसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा। हे इक्ष्वाकु ! इस राज्य वैभव को पाकर भी तुम्हारे चित्त में शांति नहीं है क्योंकि अनेक में छुपे हुए एक को तुमने नहीं जाना। जिसको पाने से सब पाया जाता है उसको तुमने नहीं पाया। इसलिए राजन ! तुम उसको पा लो जिसको पाने से सब पा लिया जाता है, जिसको जानने से सब जान लिया जाता है। उस आत्मदेव को जान लो। फिर तुम्हें भीतर कर्त्तापन नहीं लगेगा। तुम राज्य तो करोगे लेकिन समझोगे कि बुद्धि मूर्खों पर अनुशासन कर रही है और सज्जनों को सहयोग दे रही है। मैं कुछ नहीं करता.... हे राजन ! ऐसा ज्ञानवान जिस ईंट पर पैर रखता है वह ईंट भी प्रणाम करने योग्य हो जाती है। ऐसा ज्ञानवान जिस वस्तु को छूता है वह वस्तु प्रसाद बन जाती है। ऐसा ज्ञानवान व्यक्ति जिस पर नजर डालता है वह व्यक्ति भी निष्पाप होने लगता है।

जो ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाता है, जो ज्ञान विज्ञान का अनुभव कर लेता है वह फिर शास्त्र और शास्त्र के अर्थ का उल्लंघन करके भी अगर विचरता है तो भी उसको पाप-पुण्य सता नहीं सकते क्योंकि उसको अपने निज स्वरूप का बोध हो चुका है। अब वह देह, इन्द्रियाँ, प्राण, शरीरादि को कर्त्ता-भोक्ता देखता है और अपने को उनसे असंग देखता है।'

सच पूछो तो आत्मा निःसंग है लेकिन हम आत्मा को नहीं जानते हैं और देह में हमारी आसक्ति तथा संसार में प्रीति होती है इसीलिए बुद्धि हमको संसार में फँसा देती है, अहंकार हमें उलझा देता है और इच्छाएँ-वासनाएँ हमको घसीटती जाती हैं। जब आत्मपद का रस आने लगता है तब संसार का रस फीका होने लगता है। फिर आप खाते-पीते, चलते-बोलते दिखोगे सही लेकिन वैसे ही, जैसे नट अपना स्वाँग दिखाता है। भीतर से नट अपने को ज्यों-का-त्यों जानता है किन्तु बाहर कभी राजा तो कभी भिखारी और कभी अमलदार का स्वाँग करता दिखता है। ऐसे ही भगवान में प्रीति होने से भगवान के समग्र स्वरूप को जो जान लेता है वह अपने भीतर ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाता है किन्तु बाहर जैसा अन्न मिलता है खा लेता है, जैसा वस्त्र मिलता है पहन लेता है, जहाँ जगह मिलती है सो लेता है।

हमारी आसक्ति संसार में होती है, संसार के संबंधों में होती है। संबंध हमारी इच्छा के अनुकूल होते हैं तो हम सुखी होते हैं, प्रतिकूल होते हैं तो हम दुःखी होते हैं। किन्तु सुख दुःख दोनों आकर चले जाते हैं। जो चले जाने वाली चीजें हैं, उनमें न बहना यह ज्ञान है और चले जाने वाली वस्तुओं में, परिस्थितियों बह जाना यह अज्ञान है।

दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने वाला मन लोहे जैसा है। सुख-दुःख में समान रहने वाला मन हीरे जैसा है। दुःख सुख का जो खिलवाड़ मात्र समझता है वह है शहंशाह। जैसे लोहा, सोना, हीरा सब होते हैं राजा के ही नियंत्रण में, वैसे ही **शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सुख-दुःखादि होते हैं ब्रह्मवेत्ता के नियंत्रण में।** जो भगवान के समग्र स्वरूप को जान लेता है, वह ब्रह्मवेत्ता हो जाता है और भगवान के समग्र स्वरूप को वही जान सकता है जिसकी भगवान में आसक्ति होती है, जो '**मय्यासक्तमनाः**' होता है।

यहाँ आसक्ति का तात्पर्य पति-पत्नी के बीच होने वाली आसक्ति नहीं है। शब्द तो आसक्ति है, लेकिन हमारी दृष्टि की आसक्ति नहीं वरन् श्री कृष्ण की दृष्टि की आसक्ति।

एक दर्जी गया रोम में पोप को देखने के लिए। जब देखकर वापस आया तब अपने मित्र से बोलाः

"मैं रोम देश में पोप के दर्शन करके आया।"

मित्रः "अच्छा..... पोप कैसे लगे?"

दर्जीः "पतले से हैं। लम्बी सी कमीज है। उसकी चौड़ाई 36 इंच है। कमीज की सिलाई में कटिंग ऐसी ऐसी है।"

मित्रः "भाई ! पोप के दर्शन किये कि कमीज के?"

ऐसे ही श्रीकृष्ण के वचन कमीज जैसे दिखते हैं। श्रीकृष्ण के वचनों में श्री कृष्ण छुपे हुए हैं। दृष्टि बदलती है तो सृष्टि बदल जाती है और भगवान में प्रीति हो जाती है तो दृष्टि बदलना सुगम हो जाता है। वासना मैं प्रीति होती है तो दृष्टि नहीं बदलती।

भौतिक विज्ञान सृष्टि को बदलने की कोशिश करता है और वेदान्त दृष्टि को बदलने की। सृष्टि कितनी भी बदल जाये फिर भी पूर्ण सुखद नहीं हो सकती जबकि दृष्टि जरा-सी बदल जाये तो आप परम सुखी हो सकते हो। जिसको जानने से सब जाना जाता है, वह परमात्मसुख वेदान्त से मिलता है। इस परमात्म-स्वरूप को पाकर आप भी सदा के लिए मुक्त हो सकते हो और यह परमात्मस्वरूप आपके पास ही है। फिर भी आप हजारों-हजारों दूसरी कुंजियाँ खोजते हो

सुख-सुविधा पाने के लिए लेकिन सदा के लिए मुक्त कर देने वाली जो कुंजी है आत्मज्ञान उसको ही नहीं खोजते।'

एक रोचक कथा हैः

कोई सैलानी समुद्र में सैर करने गया। नाव पर सैलानी ने नाविक से पूछाः "तू इंग्लिश जानता है?"

नाविकः "भैया ! इंग्लिश क्या होता है?"

सैलानीः "इंग्लिश नहीं जानता? तेरी 25 प्रतिशत जिंदगी बरबाद हो गयी। अच्छा... यह तो बता कि अभी मुख्यमंत्री कौन है?"

नाविकः "नहीं, मैं नहीं जानता।"

सैलानीः "राजनीति की बात नहीं जानता? तेरी 25 प्रतिशत जिंदगी और भी बेकार हो गयी। अच्छा...... लाइट हाउस में कौन-सी फिल्म आयी है, यह बता दे।"

नाविकः "लाइट हाउस-वाइट हाउस वगैरह हम नहीं जानते। फिल्में देखकर चरित्र और जिंदगी बरबाद करने वालों में से हम नहीं हैं।"

सैलानीः "अरे ! इतना भी नहीं जानते? तेरी 25 प्रतिशत जिंदगी और बेकार हो गयी।"

इतने में आया आँधी तूफान। नाव डगमगाने लगी। तब नाविक ने पूछाः

"साहब ! आप तैरना जानते हो?"

सैलानीः "मैं और तो सब जानता हूँ, केवल तैरना नहीं जानता।"

नाविकः "मेरे पास तो 25 प्रतिशत जिंदगी बाकी है। मैं तैरना जानता हूँ अतः किनारे लग जाऊँगा लेकिन आपकी तो सौ प्रतिशत जिंदगी डूब जायगी।"

ऐसे ही जिसने बाकी सब तो जाना किन्तु संसार-सागर को तरना नहीं जाना उसका तो पूरा जीवन ही डूब गया।

भगवान कहते हैं-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यवशिष्यते।।

"मैं तेरे लिए इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञान को संपूर्णता से कहूँगा कि जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं बचता।'"

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

विश्व में तत्त्व को जानने वाले विरले ही होते हैं।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चियतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

"हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्व से जानता है।"

(गीताः 7.3)

चौरासी लाख योनियों में मानव योनि सर्वश्रेष्ठ है। मानवों में भी वह श्रेष्ठ है जिसे अपने मानव जीवन की गरिमा का पता चलता है। बहुत जन्मों के पुण्य-पाप जब साम्यावस्था में होते हैं तब मनुष्य-तन मिलता है। देवता ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि वे भोगप्रधान स्वभाववाले होते हैं। दैत्य ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि वे क्रूरताप्रधान स्वभाव वाले होते हैं। मनुष्य ज्ञान का अधिकारी होता है क्योंकि मनुष्य केवल भोगों का भोक्ता ही नहीं, वरन् सत्कर्म का कर्त्ता भी बन सकता है। किन्तु मनुष्य देह धारण करके भी जो भगवान के साथ संबंध नहीं जोड़ सकता वह मनुष्य के रूप में पशु ही है।

इस प्रकार लाखों-लाखों प्राणियों में, पशुओं में मनुष्य प्राणी श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य देह तभी मिलती है जब परमात्मा की कृपा होती है। अनंत जन्मों के संस्कार मनुष्य के पास मौजूद हैं। शुभ संस्कार भी मौजूद हैं, अशुभ संस्कार भी मौजूद हैं।

चिड़िया आज से सौ साल पहले जिस प्रकार का घोंसला बनाती थी उसी प्रकार का आज भी बनाती है। बाज जैसे आकाश में उड़कर अपना शिकार खोजता था, वैसे ही आज भी खोजता है। बिल्ली, कुत्ता, चूहा, गिलहरी आदि जिस प्रकार 500 वर्ष पहले जीते थे वैसे ही आज भी जीते हैं क्योंकि इन सब पर प्रकृति का पूरा नियंत्रण है। ये सब पशु पक्षी आदि न गाली देते हैं न मुकद्दमा लड़ते हैं, फिर भी वैसे के वैसे हैं जबकि मनुष्य झूठ भी बोलता है, चोरी भी करता है, गाली भी देता है, मुकद्दमा भी लड़ता है फिर भी मनुष्य अन्य सब प्राणियों से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह निरन्तर विकास करता रहता है। मानव पर ईश्वर की यह असीम अनुकंपा है कि मनुष्य प्रकृति के ऊपर भी अपना प्रभाव डालने की योग्यता रखता है। अपनी योग्यता से प्रकृति की प्रतिकूलताओं को दूर कर सकता है।

प्रकृति के, सृष्टि के नियम में बारिश आयी तो मनुष्य ने छाता बना लिया, ठंड आयी तो स्वेटर-शॉल बना लिए, गर्मी आयी तो पंखे की खोज कर ली, आग लगी तो अग्निशामक यंत्रों की

व्यवस्था कर ली..... इस प्रकार मनुष्य प्रकृति की प्रतिकूलताओं को अपने पुरुषार्थ से रोक लेता है और अपना अनुकूल जीवन जी लेता है।

ऐसे हजारों पुरुषार्थी मनुष्यों में से भी कोई विरला ही सिद्धि के लिए अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि के लिए यत्न करता है और ऐसे यत्न करने वाले हजारों में भी कोई विरला ही भगवान का तत्त्व से जानने का यत्न करता है।

सब मनुष्य भगवान को जानने का यत्न क्यों नहीं कर पाते? मानव का स्वभाव है जिस चीज का अभाव हो उस चीज की प्राप्ति का यत्न करना और जो मौजूद हो उसकी ओर न देखना। जो परमात्मा सदा मौजूद है उसकी ओर न देखना। जो परमात्मा सदा मौजूद है उसकी तरफ मन झुकता नहीं है और जो संसार लामौजूद है, जो कि था नहीं और बाद में रहेगा नहीं, उसके पीछे मन भागता है। मन की इस चाल के कारण ही मानव जल्दी ईश-प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता है।'

दूसरी बातः माया का यह बड़ा अटपटा खेल है कि संयोगजन्य जो भी सुख है वे आते तो भगवान की सत्ता से हैं किन्तु मनुष्य उन्हें अज्ञानता से **विषयों में से आते हुए मान लेता है** और संयोगजन्य विषय-सुख में ही उलझकर रह जाता है। आँखें और रूप के, जिह्वा और स्वाद के, कान और शब्द के, नाक और गंध के, त्वचा और स्पर्श के संयोग में मनुष्य इतना उलझ जाता है कि वास्तविक ज्ञान पाने की इच्छा ही नहीं होती, इसीलिए **तत्त्वज्ञान पाना या परमात्मा को पाना कठिन लगता है।**

अगर परमात्म प्राप्ति इतनी सुलभ है तो फिर विश्व में परमात्मा को पाये हुए लोग ज्यादा होने चाहिए। करोड़ों मनुष्य परमात्मा को पाये हुए होने चाहिए और कोई विरला ही परमात्म-प्राप्ति से वंचित रहना चाहिए किन्तु होता है बिल्कुल विपरीत। तभी तो भगवान कहते हैं- 'हजारों यत्न करने वालों में कोई विरला ही मुझे तत्त्व से जानता है।'

हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि के लिए यत्न करता है और सिद्धि मिलने पर वहीं रुक जाता है, वहीं संतुष्ट हो जाता है। सिद्धि मिलने पर अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि होने पर मनुष्य में तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा हो सकती है किन्तु मनुष्य अन्तःकरण की शुद्धि में ही रुक जाता है, अन्तःकरण की शुद्धि में होने वाले छोटे-मोटे लाभों से ही संतुष्ट हो जाता है। अंतःकरण से पार होकर तत्त्वज्ञान की ओर अभिमुख होने के लिए उत्सुक नहीं बनता, तत्त्व को पाने का अधिकारी नहीं हो पाता।

स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।

अतः यत्न करके जब बुद्धि शुद्ध हो और शुद्ध बुद्धि में मैं कौन हूँ यह प्रश्न उठे एवं बुद्ध पुरुषों का संग हो तभी मनुष्य तत्त्व को पाने का अधिकारी हो सकता है। तत्त्व को पाये बिना सारे विश्व का राज्य मिल जाये तब भी व्यर्थ है और जिसके पास भोजन के लिए रोटी का टुकड़ा न हो, पहनने को कपड़ा न हो और रहने को झोंपड़ा भी न हो फिर भी यदि वह तत्त्व को जानता है तो ऐसा पुरुष विश्वात्मा होता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओं की तो भगवान राम लक्ष्मण भी पैरचंपी करते हैं।

जिसको पाये बिना मनुष्य कंगाल है, जिसको पाये बिना मनुष्य का जन्म व्यर्थ है, जिसको जाने बिना सब कुछ जाना हुआ तुच्छ है, जिससे मिले बिना सबसे मिलना व्यर्थ है ऐसा परमात्मा सदा, सर्वत्र तथा सबसे मिला हुआ है और आज तक उसका पता नहीं... यह परम आश्चर्य है ! मछली शायद पानी से बाहर रह जाये किन्तु मनुष्य तो परमात्मा से एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हो सकता है। मछली को तो पानी के बाहर रहने पर पानी के छटपटाहट होती हैं किन्तु मनुष्य को परमात्मा के लिए छटपटाहट नहीं होती। क्यों? मनुष्य एक क्षण के लिए भी परमात्मा से अलग नहीं होता इसीलिए शायद उसे परमात्मा के लिए छटपटाहट नहीं होती होगी! अगर एक बार भी उसे परमात्म-प्राप्ति की तीव्र छटपटाहट हो जाये तो फिर वह उसे जाने बिना रह भी नहीं सकता।'

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

भगवान की परा और अपरा प्रकृति

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

"पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश और मन, बुद्धि एवं अहंकार.... ऐसे यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरी को मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान कि जिससे यह संपूर्ण जगत धारण किया जाता है।"

(गीताः 7.4,5)

भगवान श्रीकृष्ण यहाँ अपनी दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन करते हैं- परा और अपरा। वे प्रकृति को लेकर सृष्टि की रचना करते हैं। जिस प्रकृति को लेकर रचना करते हैं वह है उनकी अपरा प्रकृति एवं जो उनका ही अंशरूप जीव है उसे भगवान परा प्रकृति कहते हैं। अपरा प्रकृति निकृष्ट, जड़ और परिवर्तनशील है तथा परा प्रकृति श्रेष्ठ, चेतन और अपरिवर्तनशील है। भगवान की परा प्रकृति द्वारा ही यह संपूर्ण जगत धारण किया जाता है।

प्रवृत्ति और रचना – यह अपरा प्रकृति है, अष्टधा प्रकृति है, जिसमें कि पंचमहाभूत एवं मन, बुद्धि तथा अहंकार इन आठ चीजों को समावेश होता है। भगवान का ही अंश जीव परा प्रकृति है। अपरा प्रकृति जीव को परमात्मा से एक रूप करने वाली है।

जैसे, सुबह नींद में से उठकर सबसे पहले मैं हूँ ऐसी स्मृति उत्पन्न होती है, यह परा प्रकृति है फिर वृत्ति उत्पन्न होती है कि मैं अमुक जगह पर हूँ.... मैं सोया था... मैं अभी जागा हूँ.... मुझे यहाँ जाना है... मुझे यह करना है.... मुझे यह पाना है.... आदि आदि वृत्तिरूप अहंकार अपरा प्रकृति है।

जो जीवभूता प्रकृति है, जो अपरिवर्तनशील एवं चेतन है वही भगवान की परा प्रकृति है। जीव की बाल्यावस्था बदल जाती है, किशोरावस्था भी बदल जाती है, जवानी भी बदल जाती है, बुढापा भी बदल जाता है एवं मौत के बाद नया शरीर प्राप्त हो जाता.... कई बार ऐसे शरीर बदलते रहते हैं। मन, बुद्धि अहंकार भी बदलता रहता है किन्तु इन सबको देखने वाला कोई है जो हर अवस्था में, हर प्रकृति में अबदल रहता है। जो अबदल रहता है वही सबका जीवात्मा होकर बैठा है। उसका असली स्वरूप परमात्मा से अभिन्न है लेकिन अज्ञानवश वह इस अष्टधा प्रकृति से बने शरीर को मैं एवं उसके संबंधों को मेरा मानता है इसीलिए जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

जैसे विचार दो प्रकार के होते हैं- अच्छे एवं बुरे। उसी प्रकार प्रकृति के भी दो प्रकार हैं- अपरा एवं परा। आप जब भोग चाहते हो, संसार के ऐश – आराम एवं मजे चाहते हो तो अपरा प्रकृति में उलझ जाते हो। जब आप संसार के ऐश-आराम एवं मौज मस्ती को नश्वर समझकर सच्चा सुख चाहते हो तो परा प्रकृति आपकी मदद करती है। जब परा प्रकृति मदद करती है तो परमेश्वर का सुख मिलता है, परमेश्वर का ज्ञान मिलता है तथा परमेश्वर का अनुभव हो जाता है। फिर वह जीवात्मा समझता है कि, मैं परमेश्वर से जुदा नहीं था, परमेश्वर मुझसे जुदा नहीं था। आज तक जिसको खोजता-फिरता था, वही तो मेरा आत्मा था।

बंदगी का था कसूर बंदा मुझे बना दिया।

मैं खुद से था बेखबर तभी तो सिर झुका दिया।।
वे थे न मुझसे दूर न मैं उनसे दूर था।
आता न था नजर तो नजर का कसूर था।।

पहले हमारी नजर ऐसी थी की अपरा प्रकृति की चीजों में हम उलझ रहे थे... लगता था कि, 'यह मिले तो सुखी हो जाऊँ, यह भोगूँ तो सुखी हो जाऊँ...' ऐसा करते-करते सुख के पीछे ही मर रहे थे। किन्तु जब पता चला अपने स्वरूप का तो लगा कि 'अरे ! मैं स्वयं ही सुख का सागर हूँ.... सुख के लिए कहाँ-कहाँ भटक रहा था?'

अपरा प्रकृति में रहकर कोई पूरा सुखी हो जाये या उसकी सभी समस्याओं का सदा के लिए समाधान हो जाये यह संभव ही नहीं है। सभी समस्याएँ तो तभी हल हो सकती हैं कि जब उनसे अपने पृथकत्व को जान लिया जाये।

दर्शनशास्त्र की एक बड़ी सूक्ष्म बात है कि जो 'इदं' है वह 'अहं' नहीं हो सकता।

जैसे यह किताब है तो इसका तात्पर्य यह है कि मैं किताब नहीं हूँ। इसी प्रकार यह रूमाल है... तो मैं रूमाल नहीं। यह हाथ...... तो मैं हाथ नहीं। यह सिर... तो मैं सिर नहीं। मेरा पेट दुःखता है.... तो मैं पेट नहीं। मेरा हृदय दुःखी है... तो मैं हृदय नहीं। मेरा मन चंचल है.... तो मैं मन नहीं। मेरी बुद्धि ने बढ़िया निर्णय दिया.... तो मैं बुद्धि नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि आप इन सबसे पृथक हो।

यदि इस पृथकत्व को नहीं जाना और अष्टधा प्रकृति के शरीर को मैं और मेरा मानते रहे तो चाहे कितनी भी उपलब्धियाँ हो जायें फिर भी मन में और पाने की, और जानने की इच्छा बनी रहेगी एवं मिली हुई चीजें छूट न जायें इस बात का भय बना रहेगा। पृथकत्व को यदि ठीक से जान लिया तो फिर आपका अनुभव एवं श्रीकृष्ण का अनुभव एक हो जायगा।

एक होती अविद्या तथा दूसरी होती है विद्या। अविद्या अविद्यमान वस्तुओं में सत्यबुद्धि करवा कर जीव को भटकाती है। अपरा प्रकृति के खिलौनों में जीव उलझ जाता है। जैसे बालक मिट्टी के आम, सेवफल आदि से रस लेने की कोशिश करता है एवं छीन लिए जाने पर रोता भी है किन्तु यदि माँ नकली खिलौने की जगह असली आम बालक के होठों पर रख देती है तो वह अपने आप नकली आम को छोड़ देता है। नकली खिलौना रस नहीं देता किन्तु तब तक अच्छा लगता है जब तक नकली को नकली नहीं जाना। नकली को नकली तभी जान सकते हैं जब असली का स्वाद मिलता है।

जब असली का स्वाद आता है, परा प्रकृति को जरा सा प्रसाद मिलता है, अपने सहज स्वाभाविक आत्मस्वरूप की स्मृति आ जाती है तो बाहर की तू.. तू.. मैं.. मैं... यह भोगना है... यह पाना है.. ये सब फीके हो जाते हैं। असली को अगर ठीक से जान लिया तो नकली को आकर्षण से पिण्ड छूट जाता है। असली सुख (ईश्वरीय सुख) को पा लें तो नकली (विकारी सुख) का प्रभाव समाप्त हो जाता है। फिर जीवात्मा विकारी सुख में रहता हुआ भले दिखे किन्तु वह होता अपने आप में ही है।

उठत बैठत वही उटाने।
कहत कबीर हम उसी ठिकाने।

वास्तव में देखा जाये तो जीवमात्र का शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही है लेकिन निकृष्ट (अपरा) प्रकृति के साथ तादात्म्य करके जीव अपना स्वरूप भूल जाता है।

भूल्या जभी आपनूँ तभी हुआ खराब।

जो जीव अपरा प्रकृति में उलझे हुए हैं वे नहीं जानते लेकिन परा का आश्रय लेकर जो परब्रह्म में जगे हैं ऐसे महापुरुष जानते हैं कि सारी प्रकृति उसी परमात्मा का विस्तार है। ऐसे भगवत्प्राप्त महापुरुषों का संग एवं साधन-भजन ईश्वरप्राप्ति में बड़ी मदद करते हैं।

जीव अगर साधन भजन छोड़ दे तो शरीर तो बना है पंचमहाभूत एवं मन, बुद्धि तथा अहंकार इस निकृष्ट प्रकृति से। अतः वह जीव को निकृष्ट की तरफ, विषय-विकारों की तरफ ही घसीटकर ले जायेगा। लेकिन ज्ञान के द्वारा, पुण्य के द्वारा, समझ के द्वारा निकृष्ट शरीर में होते हुए भी श्रेष्ठ आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। असत्-जड़-दुःखरूप शरीर में होते हुए भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वर का अनुभव किया जा सकता है। मरणधर्मा मानव शरीर में अमर आत्मा का दीदार किया जा सकता है।

ये परा और अपरा दोनों प्रकृति में सत्ता भगवान की, चेतना भगवान की, आनंद भगवान का, माधुर्य भगवान का है। यही कारण है कि आपको आनंद एवं माधुर्य का अनुभव होता है। आप भगवान के साथ उठते हो, भगवान के साथ बैठते हो, भगवान के साथ सोते हो, भगवान के साथ खाते-पीते हो लेकिन यह भगवान है ऐसा पता नहीं है। यही निकृष्ट प्रकृति का, अपरा प्रकृति का स्वभाव है।

जीवभूतां महाबाहो..... जो चैतन्य तो जीव बना देती है, वह मेरी परा प्रकृति है। वही परा प्रकृति सम्पूर्ण जगत को धारण करती है। अन्यथा वह जीवात्मा वास्तव में तो परमात्मा का अभिन्न अंग है। **जीवात्मा सो परमात्मा।** भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा हैः

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः

जीवभाव पैदा कराने वाली जो प्रकृति है, उसे जीवभूता कहते हैं और देह को 'मैं' मानकर भोग में रूचि पैदा करती है वह अपरा प्रकृति है। भगवान को जानकर भगवान में मिल जाऊँ, यह परा प्रकृति का स्वभाव है जबकि धन कमा लूँ... ऐसा बन जाऊँ... वैसा बन जाऊँ... यह अपरा प्रकृति का स्वभाव है।

जीवन में कभी अपरा प्रकृति का जोर लगता है तो कभी परा प्रकृति का। हम जब सत्संग में होते हैं तो लगता है कि यह परमात्मा वाला रास्ता ठीक है, लेकिन जब संसार में जाते हैं तो लगता है कि यह भी तो करना चाहिए। यह अपरा प्रकृति का प्रभाव है।

इस अपरा प्रकृति से बचने के लिए कोई नियम ले लेना चाहिए कि इतना जप तो करना ही है। अपरा प्रकृति को मिटाने के लिए कर्मयोग करो। दूसरों को सुख देने के लिए करो। भोगों की इच्छा कर्मयोग करने से मिटती है और परमात्मा को जानने की इच्छा, जिज्ञासा ज्ञानयोग से पूरी होती है। इस प्रकार ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का आश्रय लेकर अपरा प्रकृति के प्रभाव से अपने को छुड़ा लो एवं परा प्रकृति को सहयोग दो।

एक कल्पति दृष्टांत देता हूँ-

दो भाई नर्मदा किनारे नहाने के लिए गये। बड़ा भाई नहाकर निकल गया। छोटा भाई नहाने के लिए 2-4 कदम आगे चला गया। इतने में मगर ने उसका पैर पकड़ लिया। पानी में मगर का जोर ज्यादा होता है। वह छोटे भाई को घसीटने लगा।। यह देखकर बड़ा भाई पानी में गया एवं छोटे भाई का हाथ पकड़कर उसे किनारे की ओर खींचने लगा। अब छोटा भाई किधर जायेगा? मगर की ओर जायेगा कि बड़े भाई की ओर? जिधर वह स्वयं जोर लगायेगा उधर की तरफ उसे सहयोग मिलेगा। ऐसे ही बड़ा भाई है परा प्रकृति एवं मगर है अपरा प्रकृति। जीव है बीच में। वह कभी सत्संग की तरफ, योग की तरफ खिंचता है और कभी भोग उसे अपनी ओर खींचते हैं। अब जीव स्वयं जिस ओर पुरुषार्थ करता है, वहीं से उसे सहयोग मिलता है।

भगवान कहते हैं- **भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।** जैसे दूध और दूध की सफेदी, तेल और तेल की चिकनाहट अभिन्न है, वैसा ही परमात्मा और परमात्मा की प्रकृति अभिन्न है। जैसे आकाश में बादल एवं बादलों में आकाश है किन्तु बादलों के मिटने से आकाश नहीं मिटता, वह तो अपनी

महिमा में स्थित रहता है। ऐसे ही भगवान की प्रकृति बदलती रहती है, फिर भी भगवान का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है।

प्रकृति भगवान की सत्ता के बिना कार्य नहीं कर सकती और प्रकृति के बिना भगवान की सत्ता का खेल दिख नहीं सकता। जैसे पावर हाउस से आने वाले तारों में विद्यतु होती है लेकिन विद्युत दिखती नहीं है। वह तो बल्ब आदि साधनों द्वारा ही दिखती है किन्तु बल्ब आदि के टूट जाने से पावर हाउस का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। ऐसे ही भगवान की सत्ता सबमें ओत-प्रोत है, लेकिन दिखती और कार्य करती है प्रकृति द्वारा। फिर भी प्रकृति के बनने बिगड़ने से भगवान का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे पुरुष एवं पुरुष की शक्ति अभिन्न है, वैसे ही परमात्मा और परमात्मा की माया अभिन्न है। यह अष्टधा प्रकृति परमात्म-चेतना से अभिन्न है। किन्तु जैसे प्रकाश में परिवर्तन होने से सूर्य में परिवर्तन नहीं होता, वैसे ही अष्टधा प्रकृति में परिवर्तन होने से परमात्मा में, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता।

लेकिन होता क्या है कि इस अष्टधा प्रकृति से बने शरीर में, मन में आनेवाले सुख-दुःख, चिन्ता-भय, मान-अपमान आदि के साथ मानव जुड़ जाता है एवं सुखी-दुःखी होता रहता है। सुख-दुःख को, चिन्ता-भय को, मान-अपमान को अष्टधा प्रकृति में होनेवाला मानकर एवं उससे अपने को पृथक जानकर मुक्त हो जाना, यही मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि है। यह ऐसी उपलब्धि जहाँ जगत के सारे सुख-दुःख तुच्छ हो जाते हैं। इस उपलब्धि को पाना आसान भी है किन्तु पाने की जिज्ञासा है तो बताने वाले नहीं हैं तो उपलब्धि के महत्व का पता नहीं चलता।

जैसे तरंग पानी से भिन्न नहीं, पानी तरंग से भिन्न नहीं, ऐसे ही सचमुच में जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। जो जीवात्मा यह नहीं जानता, वह संसार में उलझ जाता है एवं जो जान लेता है, वह परमात्मा में टिक जाता है। वाणी से उसका वर्णन करना संभव नहीं। वह तो अनुभव की चीज है। जो एक बार भी परमात्मा से अपनी अभिन्नता जान लेता है, वह मुक्तात्मा हो जाता है किन्तु उसके लिए तड़प होनी चाहिए। जितनी तड़प तीव्र, उतना काम जल्दी। अन्यथा, उसके सिवा जो भी काम बना, सब निकम्मा है।

नरसिंह मेहता के ये वचन फिर से याद करने जैसे हैं-

ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चीन्यो नहीं त्यां लगी साधना सर्व झूठी।

अतः अपने परमात्म-स्वभाव को जानने की तड़प जगाओ। कुछ समय पवित्र एकांत वातावरण में रहा करो। वर्ष में कुछ महीन प्रभु-प्राप्ति के लिए, सतत अभ्यास के लिए निकालना

बुद्धिमानी है और पूरी जिन्दगी संसार में खपा देना योग्य नहीं है। प्रभु करे कि प्रभु का अनुभव अपना अनुभव हो जाये।

ऐसे दिन कब आयेंगे कि परमात्म-प्राप्ति के लिए हमारे हृदय में तड़प जाग जाय....!

ॐ......ॐ..... शांति...

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

परमात्मा हमारे साथ होते हुए भी दुःखी क्यों?

श्रीमद भगवद गीता के सातवें अध्याय के छठे एवं सातवें श्लोग में आता हैः

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

'हे अर्जुन तू ऐसा समझ कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों (परा-अपरा) से उत्पन्न होने वाले हैं और मैं संपूर्ण जगत की उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।

हे धनंजय ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

(गीताः 7.6,7)

भगवान की दो प्रकृतियाँ है परा और अपरा।

परा प्रकृति जीवरूपा है तथा अपरा प्रकृति पंचमहाभूतरूपा है।

हमारे शरीर में भी दो प्रकृतियाँ हैं- एक स्थूल, दूसरी सूक्ष्म। हमारे स्थूल शरीर को चलाने वाली है सूक्ष्म प्रकृति। इन स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों को सत्ता देने वाला जो चैतन्य है, वही वास्तव में हमारा स्वरूप है। किन्तु इस तत्त्व को न जानने के कारण एवं देह को मैं मानने के कारण ही हम मानने लगते हैं कि 'भगवान कुछ और हैं, कहीं और हैं एवं हम कहीं और हैं।' जब अपरा प्रकृति के साथ हम तादात्म्य कर लेते हैं तो अपने को खो देते हैं। एवं अपरा प्रकृति के रोग, अपरा प्रकृति के बनने-बिगड़ने आदि परिवर्तनों को अपने में आरोपित कर देते हैं।

परा और अपरा – चैतन्य की इन दो प्रकार की शक्तियों से ही सारे जगत की उत्पत्ति और प्रलय होता है। ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्मा की ही हैं। तभी तो श्री कृष्ण कहते हैं- "मैं संपूर्ण जगत की उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ।" इसी प्रकार अगर साधक अभ्यास करे कि 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों देहों को सत्ता देने वाला मैं साक्षी द्रष्टा हूँ' तो वह भी वहीं पहुँच सकता है जहाँ श्री कृष्ण हैं।

श्रीकृष्ण इस रूप में उपदेश नहीं देते कि 'मैं भगवान हूँ और तुम कोई ओर हो।' नहीं नहीं, ऐसी भ्रांति में न पड़ जाओ इसीलिए दूसरे श्लोक में कहते हैं कि 'हे धनंजय ! मेरे सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। जैसे, सूत्र में मणियाँ पिरोई होती हैं ऐसे ही सारे जगत में ओत-प्रोत हूँ।'

जिन शक्तियों से यह सम्पूर्ण जगत दृष्टिगोचर हो रहा है वे शक्तियाँ भी उसी चैतन्य तत्त्व परमात्मा की हैं और वे परमात्मा से अभिन्न हैं। शक्ति कभी शक्तिमान से भिन्न नहीं हो सकती। जैसे पुरुष की कार्यशक्ति पुरुष से अलग नहीं हो सकती ऐसे ही जहाँ चैतन्य है वहाँ उसकी शक्तियाँ हैं और जहाँ शक्तियाँ है वहाँ चैतन्य की चेतना भी होती है। शक्ति जिससे प्रगट होती है, जिसके आधार से टिकती है और जिसमें लीन होती है वहाँ तक जो पहुँच पाता है वह अपने चैतन्य तत्त्व तक, श्रीकृष्ण-तत्त्व तक पहुँचने में भी सफल हो जाता है।

आपकी सत्ता के आधार पर शरीर होता है, शरीर की सत्ता के आधार पर आप नहीं होते। आपसे अनेकों शरीर उत्पन्न हो-होकर मिट गये लेकिन शरीरों से आप कभी नहीं हुए। फिर भी शरीर के साथ अपनापन मान लेते हो, शरीर के साथ तादात्म्य करते हो तो अपने-आपको भूल जाते हो। फिर शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति मान लेते हो। शरीर के काले-गोरेपन को अपना काला-गोरापन मान लेते हो। शरीर के मोटेपन को अपना मोटापन मान लेते हो। शरीर के सुख दुःख को अपना सुख-दुःख मान लेते हो और शरीर की मृत्यु को अपनी मृत्यु मान लेते हो। क्यों? क्योंकि अपने को, अपने वास्तविक स्वरूप को जानते नहीं हो और अपनी ही स्फुरणा से जो उत्पन्न हुआ है उसके साथ जुड़ जाते हो।

यह शरीर पंचभौतिक है। यह परा-अपरा प्रकृति से चलता है और परा-अपरा प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। किन्तु इन सारे परिवर्तनों को जो देखने वाला है वह अपरिवर्तनशील है, वही आत्मा है और जो आत्मा है वही परब्रह्म परमात्मा है।

श्रीकृष्ण कहते हैं- मत्तः परतरं नान्यत्। 'मेरे अलावा मेरे से अलग और कुछ भी नहीं है।' श्रीकृष्ण यह बात भी तत्त्व को लक्ष्य में रखकर कह रहे हैं। जैसे गुलाब, गेंदा, नारंगी, सेवफल आदि सभी वस्तुएँ अलग-अलग दिखती हैं। उनके नाम अलग, उनके गुण अलग, उनके रंग

अलग, उनके आकार अलग, उनके स्वाद भी अलग.... किन्तु तत्त्व से देखा जाये तो सब एक ही हैं क्योंकि सबका निर्माण हुआ है पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचमहाभूतों से ही। इस प्रकार तत्त्वरूप से तो सब पाँच भूत ही हैं। पंचमहाभूतों का सार है महात्तत्त्व। महात्तत्त्व का सार है प्रकृति और प्रकृति का सार है परब्रह्म परमात्मा। अतः देखा जाये तो कोई भी वस्तु श्रीकृष्ण तत्त्व से भिन्न नहीं है।

जब फूल-पत्ते, फलादि भी श्रीकृष्णतत्त्व से भिन्न नहीं हैं तो आप श्रीकृष्णतत्त्व से अलग कैसे हो सकते हो? किन्तु आप अपने को श्रीकृष्णतत्त्व से अलग मान बैठे हो क्योंकि आप प्रकृति की बहने वाली वस्तुओं को सदैव एक जैसा देखने की आदत रखते हो। तभी लगता है कि अरे ! श्रीकृष्ण तो भगवान हैं, आनन्दस्वरूप हैं लेकिन मैं दुःखी हूँ.... मेरा यह हो गया... वह हो गया... वास्तव में आपका कुछ नहीं हुआ। जो कुछ भी हुआ वह परिवर्तनशील प्रकृति का हुआ। परा-अपरा प्रकृति में ही सब परिवर्तन होते रहते हैं। उन परिवर्तनों को सत्ता देने वाला अपरिवर्तनीय चैतन्य है। जो श्रीकृष्ण की आत्मा है वही आपकी आत्मा है।

शरीर चाहे श्रीराम का हो या श्रीकृष्ण का, बुद्ध का हो या कबीर का, चाहे आपका हो... शरीर तो परिवर्तनशील ही दिखेगा लेकिन इस शरीर की परिवर्तनशील अवस्था को देखने वाला जो अपरिवर्तनशील आत्मा है वह आत्मा मैं हूँ – ऐसा जो चिन्तन करता है वह देर सबेर आत्मज्ञान को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। किन्तु बदलने वाली देह के लिए साधन-सामग्रियों को जुटाकर, देह की सुविधाओं को बढ़ाकर, देह के द्वारा रस लेकर जो रसीला होना चाहता है उसके जीवन में गहरा रस नहीं मिलेगा और रसस्वरूप परमात्मा को पाने में भी सफल नहीं हो सकेगा।

ईश्वर-प्राप्ति में सबसे बड़ी रुकावट यही है कि हम कुछ बदलकर, कुछ बनाकर, कुछ पाकर और कुछ छोड़कर सुखी होना चाहते हैं। अगर कुछ पाकर सुखी होते हो तो जो पहले नहीं मिला था, वह अभी मिला है और जो मिला है वह सदा आपका रहेगा नहीं। कुछ छोड़कर यदि सुखी होते हो तो आप जो छोड़ोगे वह आप नहीं होगे। जो आपसे अलग होगा उसी को आप छोड़ोगे। इस प्रकार आपसे जो दूर होगा उसी को आप पाओगे। तो क्या चैतन्य परमात्मा आपसे अलग है जो आप उसे पाने का प्रयास करोगे?

हम कुछ बदलाहट करके पाना चाहते हैं जबकि बदलाहट करके अपने आपको कभी नहीं पाया जाता और खोया नहीं जाता। अगर अपने आपको छोड़कर कुछ भी पाओगे या खोओगे तो वह पाने और खोने की सिर्फ कल्पना ही होगी। सब इधर पाँच भूतों के अन्दर ही होगा। कुछ पाओगे तो पाँच भूतों का ही पाओगे और कुछ खोओगे तो वह भी पाँच भूतों का ही खोओगे।

एक तृण का भी नाश नहीं होता और एक तृण भी नया नहीं बन सकता। बनता बिगड़ता दिखता जरूर है किन्तु वास्तव में न कुछ बनता है, न बिगड़ता है वरन् परिवर्तित होता है। जैसे, कुम्हार मिट्टी से घड़े बनाता है, मिट्टी को नहीं बनाता। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये किसी के बनाये हुए नहीं हैं वरन् उस चैतन्य की ही दो शक्तियाँ हैं परा और अपरा। परा और अपरा शक्तियों से ही सब बनता और रूपान्तरित होता दिखता है, कुछ भी नष्ट नहीं होता। किन्तु इस रूपान्तरण के बीच भी जो अरूपांतरित रहने वाला तत्त्व है, उसे अगर जान लिया जाये तो व्यक्ति समस्त व्यवहार करते हुए भी उनसे अलिप्त नहीं रह सकता है।

भगवान कहते हैं- 'हे अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होनेवाले हैं तथा मैं संपूर्ण जगत का प्रभाव (उत्पत्ति) तथा प्रलयरूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।' जैसे, लहरों की उत्पत्ति एवं विनाश का कारण सागर है। सागर से ही तरंगे उठती हैं एवं सागर में ही पुनः लीन हो जाती हैं। ऐसे ही आपका यह पाँचभौतिक शरीर पंचमहाभूतरूपी सागर में उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है। नानक जी ने कहा हैः

जो जाहू ते उपजा लीन ताहि में जान।
जैसा स्वप्ना रैन का तैसा यह संसार।।

रात्रि के स्वप्न में आप परिवार, मकान-दुकान सब बना लेते हो। मकान दुकान जड़ है और पुत्र-परिवार चेतन हैं, फिर भी दोनों बने तो आपके ही शुद्ध चैतन्य से ही हैं। परा-अपरा प्रकृति से दो दिखते हैं लेकिन दोनों की सत्ता तो एक ही है। शरीर में ही बाल-नाखून आदि कुछ जड़ हिस्सा है, बाकी चेतन हिस्सा है लेकिन जब शुद्ध चैतन्य का संबंध टूट जाता है तो बाकी दिखने वाला चेतन हिस्सा, हाथ-पैरादि भी जड़ हो जाता है। जब तक आपकी चेतना का संबंध शरीर के साथ रहता है, तब तक आप अपने को चेतन मानते हो और संबंध टूट जाने पर जड़ मान लेते हो। हकीकत में तो जड़ और चेतन दो नहीं हैं एक ही तत्त्व के रूपान्तरण हैं।

सागर का पानी वाष्पीभूत होकर बादल बनता है एवं पुनः बरसकर कहीं गंगा तो कहीं यमुना, कहीं गोदावरी तो कहीं नर्मदा के रूप में पूजा जाता है। फिर उन नदियों का जल पुनः सागर में ही मिल जाता है। जैसे, नदियाँ सागर से ही उत्पन्न होकर पुनः उसी में लीन हो जाती हैं ऐसे ही पाँच भूत का उत्पत्तिस्थान भी परमात्मा से है और लीन भी उसी में होना है तो अब भी तो हम उसी में हैं। बस जरूरत है उसे जान लेने की।

यह सारा संसार केवल रूपांतरण ही तो है। घास से मांस और मांस से घास बन जाता है। आप शाक भाजी खाते हो तो वह क्या है? घास ही तो है। और रोटी? रोटी भी तो घास में से ही बनती है। गेहूँ घास से ही तो होता है। अरे बाबा ! अगर आप घास न खाओ तो आपका शरीर दुर्बल हो जाएगा और बुद्धि भी सहयोग नहीं देगी। आप जो यह घास खाते हो उससे तीन चीजें बनती हैं- पहला स्थूल भाग जो मल-मूत्र के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। दूसरे भाग से रस-रक्तादि बनता है और सूक्ष्म भाग से मन बुद्धि का सिंचन होता है। इस प्रकार घास से ही मांस बनता है। घास से ही मन-बुद्धि बनती है। घास से ही नेता, जनता, स्त्री, पुरुष और अन्य प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सब दिखता भिन्न-भिन्न है किन्तु है सब पाँच महाभूतों का ही मिश्रण।

इन पाँच भूतों को सत्ता देती है प्रकृति और यह प्रकृति ही परा और अपरा दो शक्ति के रूप में कार्य करती है। स्थूल रूप में कार्य करती है वह है अपरा प्रकृति और सूक्ष्म रूप में कार्य करती है वह है परा प्रकृति। जैसे, गाड़ी का ढाँचा भी लोहे का होता है तथा इंजन भी लोहे का ही होता है। एक लोहा दूसरे लोहे को चलाता है। केवल गाड़ी का ढाँचा हो तो गाड़ी नहीं चल सकती और केवल इंजन हो तो भी गाड़ी नहीं चल सकती। इसी प्रकार जब स्थूल जगत एवं सूक्ष्म जगत का साथ होता है एवं परमात्मा की सत्ता होती है तभी इसमें सारे कार्य-व्यवहार दिखते हैं लेकिन फिर दोनों जगत पुनः उसी परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

एक बार किसी भक्त ने भक्ति की। उसकी दृढ़ भावना थी कि भगवान साकार रूप में दर्शन दें और मैं उनसे बातचीत कर सकूँ। भक्ति करते-करते उसके समक्ष एक बार भगवान साकार रूप लेकर आ गये और बोलेः

"वरं ब्रूयात्।' वर माँग।

भक्तः "वरदान क्या माँगूँ? मुझे तो असली तत्त्व का ज्ञान दे दो। जो सबसे बढ़िया हो वह दे दो।"

भगवानः "बढ़िया से बढ़िया है आत्मज्ञान। मेरे दर्शन का परम फल भी यही है कि जीव अपने स्वरूप का ज्ञान, आत्मज्ञान पा ले।

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पावहि निज सहज सरूपा।।

मेरे दर्शन का यही अनुपम फल है कि जीव अपने सहज स्वरूप को पा ले।"

भक्तः "मेरा सहज स्वरूप क्या है?"

भगवानः "मेरा सहज स्वरूप है, वही तुम्हारा है।"

भक्तः "भगवान भगवान ! आप तो सृष्टि की उत्पत्ति कर लेते हो, पालन करते हो और प्रलय करते हो। हम तो कुछ नहीं कर सकते तो आप और हम एक कैसे हुए?"

भगवानः "तुम्हारा यह साधारण शरीर और मेरा यह मायाविशिष्ट स्वरूप इन दोनों को छोड़ दो। बाकी जो तुम चैतन्य हो वही मैं हूँ और जिसकी सत्ता से मेरी आँखें देखती हैं उसी की सत्ता से ही तुम्हारी आँखें भी देखती हैं।"

भक्तः "भगवान ! आप तो सर्वशक्तिमान हैं और हममें तो कोई शक्ति नहीं है। फिर आप और हम एक कैसे? आप तो सृष्टि बना सकते हैं लेकि हम नहीं बना सकते?"

भगवानः "अच्छा ! आज के बाद जाग्रत की सृष्टि का संकल्प मैं करूँगा तब जाग्रत की सृष्टि बनेगी और स्वप्न की सृष्टि तुम बनाओगे।"

तब से इस जीव को स्वप्न आने लगे। जैसे स्वप्न में सब बनाकर भी आप उससे अलग रहते हो वैसे ही जाग्रत में सब देखते हुए भी आप सबसे अलग, सबसे न्यारे हो। जैसे स्वप्न से उठने पर पता चलता है कि 'सब आपका खिलवाड़ ही था' ऐसे ही यह जगत भी वास्तव में आपके चैतन्य का ही रूपान्तरण है। यह अगर समझ में आ जाये तो महाराज ! ऑफिसर के रूप में मैं ही आदेश दे रहा हूँ और कार्यकर्ता के रूप में मैं ही आदेश मान रहा हूँ। धनवानों में भी मैं ही हूँ और सत्तावानों में भी मैं ही हूँ....' इस प्रकार का अनुभव हो जायेगा। अगर यह अनुभव हो गया तो ब्रह्मलोक तक के जीवों में भी जो उच्च पद हैं उन सब पदों का भोग ब्रह्मवेत्ता एक ही साथ भोग लेते हैं। आपका शरीर सब भोग एक साथ नहीं भोग सकता लेकिन सबके शरीर में आप ही हो। यह अनुभव हो जाए तो सब भोग आप ही तो भोग रहे हो। ऐसी अभेद दृष्टि आ जाये तो आपके ऊपर क्रुद्ध होने वाले व्यक्ति का क्रोध भी प्रेम में परिणत हो जाए ऐसी शक्ति है ज्ञान में।

हरि बाबा नामक एक उच्च कोटि के संत हो गये हैं। किसी ने उनसे पूछाः

"बाबा ! आप ऐसे महान् संत कैसे बने?"

हरिबाबाः "एक बार बचपन में मैं गिल्ली-डंडा खेल रहा था। उस समय हमारे पास एक साधु बाबा आये। उनके पास एक झोले में भिक्षा थी। भिक्षा की सुगन्ध से आकर्षित होकर एक कुत्ता उनके पीछे पूँछ हिलाता आ रहा था। बाबा उस झोले को एक ओर टाँग कर हमारे साथ खेलने लगे किन्तु कुत्ता झोली की ओर देखकर पूँछ हिलाये जा रहा था। तब बाबा ने कुत्ते कहा कहाः "आज तो भिक्षा थोड़ी ही मिली है। तू किसी ओर जगह से माँगकर खा ले।"

फिर भी कुत्ता खड़ा रहा। तब पुनः बाबा ने कहाः

"जा, यहाँ क्यों खड़ा है? क्यों पूँछ हिला रहा है?"

तीन-चार बार बाबा ने कुत्ते से कहा किन्तु कुत्ता गया नहीं। तब बाबा आ गये अपने बाबापने में और बोलेः

"जा, उल्टे पैर लौट जा।"

तब वह कुत्ता उलटे पैर लौटने लगा। यह देखकर हम लोग दंग रह गये। मैंने बाबा से पूछाः

"बाबा ! यह क्या कुत्ता उलटे पैर लौट रहा है? आपके पास ऐसा कौन-सा मंत्र है कि वह ऐसे चल रहा है?"

बाबाः "हमारे गुरुदेव ने हमें तो यही मंत्र दिया है कि **सब में एक... एक में सब....।**"

इसी बात को श्री कृष्ण इस रूप में कहते हैं-

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।

'संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों (परा-अपरा) से ही उत्पत्ति वाले हैं और मैं संपूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय रूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।'

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

'हे धनंजय ! मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह संपूर्ण जगत सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।"

(गीताः7.6,7)

इन दोनों श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा सर्वत्र, सदा, सबमें पूर्ण है। परमात्मा पूर्ण होते हुए भी, सदा होते हुए भी, हमारे साथ होते हुए भी पता न चलने के कारण हम सुख से बिछुड़े हुए हैं।

मान लो, हम कभी जंगल में भटक जाएँ और कोई राजा आकर हमारा हाथ पकड़कर हमें मार्ग बताने लगे किन्तु जब तक हम उस राजा को नहीं जानते तब तक उसकी मुलाकात का गौरव हमें नहीं होता। ऐसे ही जब हम संसाररूपी जंगल में उलझ जाते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! अब तू ही हमें सही मार्ग बता। तब वह प्रभु हमें प्रेरित करके सही मार्ग पर लगाता है किन्तु उसका पता न होने के कारण हम उसके सान्निध्य के गौरव का अनुभव नहीं कर पाते। अगर तत्त्व से एक बार भी उसको जान लें तो फिर बिछुड़ने का दुर्भाग्य नहीं होता है।

मन का स्वभाव है कि अगर उसको एक बार भी परमात्मा का रस मिल जाये तो फिर वह संसार का रस छोड़ देगा और अगर संसार का रस छोड़ दे तो फिर परमात्मा का रस आने लगेगा। हम चाहते हैं कि जगत का रस, जगत के पद-प्रतिष्ठा का रस बना रहे और आत्मा का रस भी जान लें।

एक कथा हैः एक बार चींटियों की जमातें इकट्ठी हुईं। एक जमात वाली चींटी दूसरी जमात की चींटी से कहने लगीः "हम तो बड़े मजे से शक्कर के पहाड़ पर जीते हैं। चलो शक्कर पर... खाओ शक्कर.... रहो शक्कर पर..." तब नमक के पहाड़ पर रहने वाली चींटी ने कहाः "शक्कर कहाँ है? यहाँ नमक ही नमक है।"

तब शक्कर के पहाड़ वाली चींटी बोलीः

"चलो हमारे साथ।"

ऐसा कहकर वह शक्कर वाली चींटी उस नमक वाली चींटी को अपने साथ शक्कर के पहाड़ पर ले गयी। तब नमकवाली चींटी बोलीः

"तुम को बड़ी बड़ाई हाँक रही थी कि बड़ी मिठास है, बड़ी मधुरता है.... यहाँ तो कोई मधुरता नहीं है।"

शक्कर वाली चींटी नें ध्यान से देखा तो नमक के पहाड़वाली चींटी के मुँह में नमक की छोटी-सी डली देखी। तब वह बोलीः

"अरे ! मुँह में तो नमक की डली रखी हुई है, फिर शक्कर की मिठास कहाँ से मिलेगी।?"

ऐसे ही हमारे चित्त में वासना, अहंकार, ममतादिरूपी नमक की डली भरी हुई है तो फिर परमात्मरूपी शक्कर का रस कैसे मिले? परमात्मरसरूपी शक्कर की मिठास का अनुभव तो तभी हो सकता है जब संसाररूपी नमक की डली के आकर्षण और वासना को छोड़ दिया जाये। किन्तु होता क्या है? "हे सिनेमा ! तू सुख दे... हे फेन्टा ! तू सुख दे... हे टी.वी. ! तू सुख दे.... हे रेडियो ! तू सुख दे..." अरे ! सबको सुख का दान करने वाले आप भिखारी हुए जा रहे हो? आपमें तो इतना सुख है, इतना प्रेम है, इतनी शक्ति है, इतना आनन्द है कि आप संसार को भी आनंद दे सकते हो और परमात्मा को भी खुश कर सकते हो। आप संसार से सुख लेने के लिए आये हो यह गलती निकाल दो, बस। आप कुछ करके, कुछ खाकर, कुछ पहनकर, कहीं जाकर, कुछ पाकर सुखी होगे यह भ्रांति निकाल दो और जहाँ हो वहीं अपने आत्मस्वरूप में जाग जाओ, बस। अगर आपने इतना कर लिया तो समझो कि सब कुछ कर लिया... सब कुछ पा लिया।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

भगवान की विभूतियाँ

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।

"हे अर्जुन ! जल में मैं रस हूँ। चंद्रमा और सूर्य में प्रकाश मैं हूँ। संपूर्ण वेदों में मैं प्रणव (ॐ) हूँ। आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ।

पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में मैं तेज हूँ। संपूर्ण भूतों में मैं जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं वह तत्त्व मैं हूँ तथा तपस्वियों में तप मैं हूँ।"

(गीताः 7.8,9)

जल में जो रस वह रस परमात्मा है। वैज्ञानिक दृष्टि से जल का विश्लेषण करोगे तो हाइड्रोजन और ऑक्सीजन – ये दो गैस मिलेगी। इन दो गैसों को मिलाने से रस उत्पन्न नहीं होता किन्तु विज्ञान बाहर की आँखों से देखना चाहता है और विज्ञान की आँख से जो दिखेगा वह दृश्य दिखेगा। दृश्य के भीतर जो अदृश्य रस है वह विज्ञान की आँख से नहीं दिखता। भीतर का रस तो वे ही देख पाते हैं जो भीतर में, गहराई में जाते हैं। जैसे, दो मित्र परस्पर मिले। एक का हाथ दूसरे के हाथ में आया.... बड़ा आनन्द आया... बड़ा रस मिला। अगर आप मित्र के हाथ को लेबोरेटरी में ले जाओ तो त्वचा, मांस, रक्त, अस्थि के सिवा उसमें कुछ नहीं मिलेगा। फिर भी जब मित्र का हाथ आपके हाथ में आया तो रस मिला। तो कहना पड़ेगा कि रस भीतर होता है, बाहर नहीं। जो वास्तविक में रस है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है।

भौतिक विज्ञान तो इन्द्रियों को जैसा दिखता है वैसा निर्णय करता है और वेदान्त तथा योगदर्शन यानी आध्यात्मिक विज्ञान तो इन्द्रियाँ जिससे देखती हैं वह मन, मन को जो सत्ता देता है वह चित्त और चित्त को जो चेतना देता है उसके तरफ विचारता है। भगवान कहते हैं- जल में रस मैं हूँ तो जल में रस आया कहाँ से? कैसे आया? परमात्मा से ही आया। रस कब आता है? जब भीतर रस होता है तब। अगर किसी की जिह्वा में सूखा रोग हो गया हो तो उसे रसगुल्ला आदि किसी भी पदार्थ का रस नहीं आयेगा। जिह्वा को रस कब आता है? जब वह अपने रस से रसीली होती है और जिह्वा का वह रस आता है जल में छुपे हुए अत्यंत सूक्ष्म रस के प्रभाव के ही कारण। इसीलिए भगवान कहते हैं- "जल में रस मैं हूँ।"

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। 'सूर्य-चन्द्र में तेज मैं हूँ।' ऐसा कहने का तात्पर्य क्या है? आँखों से हमें प्रकाश दिखता है तो वास्तव में हम प्रकाश को नहीं देखते किन्तु प्रकाश जिन वस्तुओं पर पड़ता है उन वस्तुओं को देखते हैं। प्रकाश वस्तुओं पर पड़ता है तो रूपान्तरित होता है और वह रूपान्तरण हमें दिखता है, वास्तविक प्रकाश नहीं दिखता। सूर्य और चन्द्र का जो वास्तविक प्रकाश है वही आपका-हमारा वास्तविक प्रकाश है और श्रीकृष्ण इसी प्रकाश की ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं कि 'सूर्य-चन्द्र में तेज मैं हूँ।'

प्रणवः सर्ववेदषु। 'सब वेदों में ॐकार मैं हूँ।' वेद का कोई अंत नहीं है। वेद यानी ज्ञान। ज्ञान का कोई अन्त नहीं होता और जिसका अंत हो जाये वह ज्ञान नहीं होता। वेद की चार संहिताएँ हैं 1121 या 1127 उपनिषद हैं। इन सब उपनिषदों का सार कठवल्ली है और कठवल्ली आदि सबका सार बीज रूप में 'ॐ' है। 'अ'कार + 'उ'कार + 'म'कार = ॐकार।

कोई भी व्यंजन 'अ'कार के बिना नहीं बोला जा सकता। यह 'अ'कार सृष्टि का स्थूल (विश्व), 'उ' कार तेजस और 'म' कार प्राज्ञ एवं ॐ की अर्धमात्रा 'ँ' है वह है चैतन्य सूर्य का द्योतक।

अभी तो रशिया के वैज्ञानिक चकित हो गये कि कोई भी आदमी भीतर कोई एक शब्द सोचे और बाहर दूसरा शब्द बोले तो दोनों अलग-अलग उनके कम्पयूटर में आ जाते हैं लेकिन 'ॐ'कार एक विलक्षण शब्द है। भीतर अगर 'ॐ' कार एवं बाहर दूसरा शब्द हो या बाहर 'ॐ' कार और भीतर दूसरा कोई शब्द हो फिर भी दोनों जगह 'ॐ'कार ही आ जाता है। यह 'ॐ'कार शब्द अन्य सब शब्दों से बिल्कुल अलग पड़ता है और ऋषियों ने इसकी आकृति भी बिल्कुल निराली बना दी है।

ऐसा कोई भी मन्त्र नहीं है जिसमें ॐ का उपयोग न किया गया हो। जिसमें ॐ का उपयोग नहीं है वह बीजमन्त्र से रहित होता है। यह ॐकार सबका बीज है, सबका मूल है। नवजात शिशु जब रोता है तब उसकी 'ऊँवां...ऊँवां...' आवाज में ॐकार की ध्वनि ही होती है। मरीज भी बिस्तर पर कराहता है उसकी ॐSSSSS...ॐSSSS आवाज में ॐकार की ही ध्वनि होती है। इससे सिद्ध होता है कि आपका जो चैतन्य आत्मा है उसकी वास्तविक ध्वनि ॐ है।

विभिन्न पद्धतियों से ॐकार के द्वारा अपनी साधना को संपन्न किया जा सकता है। आज्ञाचक्र पर अथवा नाभि केन्द्र पर ॐ की आकृति का ध्यान करके अथवा हृदय में उसकी भावना करते हुए ध्यान करके हम अपनी सुषुप्त शक्तियों को विकसित कर सकते हैं।

वैखरी वाणी द्वारा ॐ का उच्चारण करते हुए मध्यमा में पहुँच जाओ। मध्यमा से पश्यन्ती में जाओ और पश्यन्ती से अगर परा वाणी में पहुँच जाओ तो अत्यंत सूक्ष्म अवस्था को परम मौन को उपलब्ध हो सकते हो। वह परम मौन की जो अवस्था है उस अवस्था को पाये हुए व्यक्ति के आगे इस लोक का तो क्या, त्रिलोकी का राज्य भी तुच्छ हो जाता है।

भगवान शंकर ने भैरव विज्ञान में कहा हैः

"हे उमा ! इस ॐ को जो जानता है वह मेरे को जान लेता है। इस ॐ को जो समझ लेता है वह मुझे समझ लेता है। इस ॐ को जो पा लेता है वह मुझे पा लेता है।"

भगवान श्री कृष्ण आगे कहते हैं **शब्दः खे।** अर्थात् आकाश में शब्द मैं हूँ।

शब्द में बड़ी शक्ति है। शब्द का नाश नहीं होता। मैंने यहाँ शब्द कहे और रेडियो स्टेशन के यंत्र हों तो मेरे द्वारा यहाँ कहे गये शब्द हजारों मील दूर तक सुनायी पड़ते हैं। इस प्रकार शब्दों का नाश नहीं हुआ। वाणी से निकले हुए शब्द नष्ट नहीं होते वरन् आकाश में गूँजते रहते हैं। इसीलिए भगवान कहते हैं- **शब्दः खे।** आकाश में जो शब्द है वह मैं हूँ।

पौरूषं नृषु। भगवान कहते हैं कि पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ। पुरुष कौन है? जो पुरुषार्थ करे वह पुरुष। पुरुषार्थ क्या है? **पुरुषस्य अर्थः इति पुरुषार्थः।** जो परब्रह्म परमात्मा पुरुष है उसको पाने के लिए जो प्रयत्न है उसको पुरुषार्थ बोलते हैं। भगवान कहते हैं कि ऐसा पुरुषार्थ करने वालों पुरुषों में पौरूष मैं हूँ।

पुरुष वह है जो पुरुषार्थ करके 'है' उसको ठीक से समझ ले। जो सदा मौजूद है और जिसको पाने के बाद कुछ पाना नहीं, जिसको जानने के बाद कुछ जानना नहीं, जिसमें स्थिर रहने के बाद बड़े भारी दुःख भी चलित न कर सके ऐसे तत्त्व को पाना पुरुषार्थ है।

लोग समझते हैं कि जिसके पास धन नहीं है, उसके लिए धन पाना पुरुषार्थ है। जिसके पास बाह्य पढ़ाई-लिखाई नहीं उसके लिए पढ़ाई-लिखाई पुरुषार्थ है। जिसके पास यश नहीं उसके लिए यश पाना पुरुषार्थ है। इस प्रकार जो नहीं है उसको लाना, उसको पाना पुरुषार्थ मान लिया जाता है। जगत की जितनी भी चीजे हैं वे पहले नहीं थीं, बाद में नहीं रहेंगी और अभी भी नहीं के तरफ जा रही हैं। जो नहीं की तरफ जा रही हैं उन नश्वर वस्तुओं, नश्वर सत्ता, नश्वर पद को पाने का जो यत्न करता है उसको तो शास्त्रीय भाषा में अज्ञानी कहते हैं और जो शाश्वत तत्त्व को जानकर निहाल होने को तत्पर है उसको बोलते हैं पुरुष। भगवान कहते हैं कि ऐसे पुरुषों का पुरुष्त्व मैं हूँ।

इस प्रकार गीता के सातवें अध्याय के आठवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि जल में रस, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश, संपूर्ण वेदों में ॐकार, आकाश में शब्द एवं पुरुषों में पुरुष्तव मैं हूँ।

नौवें श्लोक में भगवान आगे कहते हैं-

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च। 'पृथ्वी में पवित्र गंध मैं हूँ।'

पृथ्वी में पवित्र गंध भी वह चैतन्य सत्ता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान ने पवित्र गंध कहा है। सुगंध नहीं कहा क्योंकि सुगन्ध पवित्र गंध हो यह जरूरी नहीं। कई ऐसी सुगंधें हैं जो कामवासना को भड़काती हैं। पेरिस आदि में इस प्रकार की खोज करके इत्र (परफ्यूम्स) बनाये जाते हैं। जिनसे मनुष्य की काम वासना उद्दीप्त हो, मनुष्य संसार के कीचड़ में फँसे। इसीलिए श्रीकृष्ण ने सुगन्ध नहीं, वरन् 'पवित्र गंध' कहा है।

तेजश्चास्मि विभावसौ। 'अग्नि में तेज मैं हूँ।' तेज रूप तन्मात्रा से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है। अग्नि में से अगर तेज निकाल दिया जाये तो अग्नि बचे ही नहीं। यहाँ भगवान कहते हैं कि 'अग्नि में तेज मैं हूँ।'

जीवनं सर्वभूतेष।

संपूर्ण भूतों में जीवन मैं हूँ। प्राणी में उसको जिलाने वाली जो जीवनी-शक्ति है वह अगर न रहे तो वह प्राणी फिर प्राणी नहीं रहेगा। फिर तो वह केवल शव रह जायेगा। अतः समस्त प्राणियों में अपनी चेतना का अस्तित्व बताते हुए भगवान कहते हैं कि संपूर्ण भूतों में मैं उनका जीवन हूँ।

अंत में भगवान कहते हैं- **तपश्चास्मि तपस्विषु।** तपस्वियों में मैं तप हूँ। सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने को तप कहते हैं। किन्तु वास्तविक तप तो है परमात्म-प्राप्ति में। चाहे कितनी भी विघ्न-बाधाएँ आयें, उनकी परवाह न करते हुए अपने लक्ष्य में डटे रहना।

यही तपस्वियों का तप है और इसी से वे तपस्वी कहलाते हैं। इसी तप के लिए भगवान संकेत करते हुए कहते हैं कि तपस्वियों का तप मैं हूँ।

इस प्रकार उपरोक्त दोनों ही श्लोकों में भगवान कहते हैं कि जल में रस, सूर्य-चन्द्र में प्रभा, वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द, पुरुषों में पुरुषत्व, पृथ्वी में गंध, अग्नि में तेज, संपूर्ण भूतों में उनका जीवन तथा तपस्वियों में तप मैं हूँ। भगवान ने जिज्ञासुओं के लिए अपनी सर्वव्यापकता का बोध कराया है ताकि जिज्ञासु जहाँ-जहाँ नजर जाये, वहाँ भगवान की सत्ता

मानकर अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने में कामयाब हो सके, वास्तविक कृष्ण तत्त्व का ज्ञान पा सके।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

कौन बुद्धिमान है?

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।

'हे अर्जुन ! तू संपूर्ण भूतों का सनातन बीज यानी कारण मुझे ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।'

(गीताः 7.10)

सब भूतों में जो सनातन बीज है वह मैं हूँ। बीज में से पौधा और पौधे में से वृक्ष बन जाता है। वृक्ष में पुनः बीज उत्पन्न होता है। जैसे, बीज में से वृक्ष और वृक्ष में बीज होता है वैसे ही हम गहरी नींद में सो जाते हैं तो बीजरूप हो जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था बीजावस्था है। स्वप्नावस्था पौधावस्था है और जाग्रतावस्था वृक्षावस्था है।

इस प्रकार अवस्थाएँ बदलती हैं- जाग्रत..... स्वप्न....... और सुषुप्ति....। इनमें जो बीजरूप दृष्टा है वह सनातन है और भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- वही बीज मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां.....

जैसे श्रीकृष्ण सनातन हैं वैसे ही आप भी सनातन हो इस बात को जान लो।

आगे भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। बुद्धिमानों में बुद्धि मैं हूँ। बुद्धि यानी कौन-सी बुद्धि? वकील की बुद्धि? नहीं... श्रीकृष्ण इस बुद्धि की बात नहीं कर रहे हैं। श्रीकृष्ण बुद्धिमान की बात कर रहे हैं, विद्वान की नहीं। विद्वान तो आप किसी मूर्ख व्यक्ति को भी बना सकते हैं। तेजोहीन, बलहीन व्यक्ति भी विद्वान हो सकता है। किन्तु विद्वान होना एक बात है और बुद्धिमान होना दूसरी बात है। यह जरूरी नहीं कि बुद्धिमान व्यक्ति पढ़ा-लिखा हो और विद्वान व्यक्ति बुद्धिमान हो। कई लोग विद्वान होते हुए भी मूर्ख होते हैं और कई लोग अविद्वान होते हुए भी बुद्धिमान होते हैं। श्रीरामकृष्ण

परमहंस, रमण महर्षि वगैरह बुद्धिमान थे, विद्वान नहीं थे और जो लोग बी.ए., एम. ए., पी.एच.डी करके, दारू पीकर सड़कों पर लड़खड़ा रहे हैं वे लोग विद्वान हो सकते हैं लेकिन बुद्धिमान नहीं।

जगत में जितने भी दुःख हैं वे सब बुद्धि की कमजोरी से आते हैं। जहाँ-जहाँ अशांति, भय कलह देखो वहाँ-वहाँ समझ लेना कि बुद्धि की कमी है। बुद्धि के दोष से ही दुःख होता है। केवल सूचनाएँ एकत्रित कर लेना भी बुद्धिमता नहीं है।

एक राजकुमार था। वह नितांत बुद्धु था। 8-9 साल का हो गया था फिर भी निरा मूर्ख। वजीरों ने राजा से कहाः

"राजन ! जहाँ बुद्धिमान लड़के पढ़ते हैं उस काशी विश्वविद्यालय में राजकुमार के निवास की व्यवस्था की जाये तो वह विद्वान हो सकता है।"

वजीरों की सलाह से ऐसा ही किया गया और वह राजकुमार पढ़-लिखकर विद्वान हो गया। न्याय, वैशेषिक, ज्योतिष आदि शास्त्र पढ़ने के बाद उसने पिता को पत्र लिखाः "अब मैं पढ़ लिखकर बुद्धिमान हो गया हूँ।"

पिता पत्र पढ़कर खुश हो गये और उसे अपने पास बुला लिया। नगर के अच्छे-अच्छे बुद्धिमान सज्जनों को आमंत्रित करके राजकुमार का स्वागत समारोह रखा। उन सज्जनों में से एक बुजुर्ग सज्जन ने राजकुमार से पूछाः

"राजकुमार ! सुना है आप बड़े बुद्धिमान हो गये हो। अच्छी बात है... अब यह बताओ कि क्या-क्या पढ़ कर आये हो?"

राजकुमारः "न्यायशास्त्र, वैशेषिक दर्शन वगैरह का अध्ययन किया है। ज्योतिषशास्त्र का भी अध्ययन किया है एवं भविष्यवक्ता भी हो गया हूँ।"

बातों-बातों में उस बुजुर्ग ने अपने हाथ की अँगूठी निकाल कर मुट्ठी में रख ली और राजकुमार से कहाः

"अच्छा ! आप भविष्यवक्ता हो, ज्योतिष भी जानते हो तो बताओ कि मेरे हाथ में क्या है?"

राजकुमार ने अपना गणित लगाया एवं कहाः

"आपके हाथ में कुछ गोल-गोल है और उसके बीच में सुराख है।"

बुजुर्गः "ठीक है, आपने जो कहा वह सच है। अब यह भी बताओ कि जिसके बीच में सुराख है वह गोल-गोल चीज क्या है?"

राजकुमारः "यह बात मैं ज्योतिष के आधार पर तो नहीं बता सकता किन्तु अपनी अक्ल के आधार पर कहता हूँ कि वह पहिया होगा।"

अब हाथ में पहिया कहाँ से आता?

....तो यह हुई विद्वता न कि बुद्धिमता। जिस बुद्धि से आपके चित्त में विश्रान्ति नहीं आयी, जिस बुद्धि से आपके भीतर का रस नहीं मिल पाया वह बुद्धि नहीं, विद्या नहीं, केवल सूचनाएँ हैं। बुद्धि तो राग द्वेष से अप्रभावित रहती है। सुख-दुःख से अप्रभावित रहती है, मान-अपमान से अप्रभावित रहती है। बुद्धिमान वह है जो आने वाले प्रसंगों को पचा ले, सुख-दुःख को पचा ले, निंदा-स्तुति को पचा ले, काम-क्रोध को पचा ले, अहंकार को पचा ले।

ऐसे एक बुद्धिमान हो गये हैं महाराष्ट्र में। उनका नाम था श्री एकनाथ जी महाराज।

यह जरूरी नहीं है कि किसी संत पुरुष को सभी लोग आदर से ही देखें। जहाँ आदर से देखने वाले होते हैं वहाँ अनादर से सोचने वाले भी होते हैं। कुछ लोगों ने सोचाः 'एकनाथ जी महाराज को क्रोध नहीं आता है। वे अक्रोधी है। चलो, उनको क्रोधित करके उनकी बेइज्जती करें' उन लोगों ने 200 रुपये का इनाम घोषित कियाः 'जो एकनाथ जी महाराज को क्रोधित करके आयेगा उसे 200 रुपये इनाम में मिलेंगे।'

पैठन जैसी जगह पर उस जमाने के 200 रूपये ! अभी के दस हजार से भी ज्यादा ! कोई ब्राह्मण कुमार 200 रुपये कमाने के लिए यह कार्य करने को तैयार हो गया। काम तो कठिन था, किन्तु 200 रूपये की लालच ने उसे यह कार्य करने के लिए प्रेरित किया।

सुबह का समय था। एकनाथ जी महाराज अपने घर में परमात्म-तत्त्व का चिन्तन करते-करते आत्मारामी होकर मस्ती से बैठे थे। उसी समय उस ब्राह्मण युवक ने बिना नहाये-धोये एकनाथ जी महाराज के घर में प्रवेश किया और एकनाथ जी महाराज की गोद में बैठ गया।

एकनाथ जी उसके सिर पर हाथ घुमाया और कहाः

"भैया ! तुम बड़े प्रेमी हो ! मेरे प्रति तुम्हारा कितना स्नेह है कि दो मिनट भी बाहर न रुक सके ! जल्दी-जल्दी आ गये। इस ढंग से तो मेरा कोई शिष्य भी आज तक मेरी गोद में नहीं बैठा।"

जिसने अपने मन को जीत लिया, मन के विकारों को जान लिया वह दूसरे के मन की चालबाजी को भी जान लेता है। एकनाथ जी उसके मन के भावों को समझ गये थे कि वह उन्हें क्रोधित और दुःखी करने आया है। अगर वे क्रोधित और दुःखी हो जाते तो उसकी जीत हो जाती। अतः वे दुःखी नहीं हुए।

एकनाथ जी महाराज पूजा से उठे एवं गिरिजाबाई से कहाः

"देवी ! घर में ब्राह्मण अतिथि आया है। उसे भोजन परोसो।"

ब्राह्मणः "मैं भोजन तो करूँगा किन्तु अकेले नहीं, आपके साथ करूँगा।"

एकनाथ जीः "ठीक है। हम साथ में ही भोजन करेंगे।"

गिरिजाबाई दोनों को भोजन परोसने लगीं। ज्यों ही गिरिजाबाई झुककर घी परोसने लगीं त्यों-ही वह ब्राह्मण गिरिजाबाई की पीठ पर बैठ गया।

अपनी पत्नी की पीठ पर यदि कोई युवान लड़का बैठ जाय तो क्रोध आना स्वाभाविक है किन्तु एकनाथ जी ने कहाः

"गिरिजा ! देखना कहीं यह ब्राह्मण पुत्र नीचे न गिर पड़े।"

गिरिजाबाई भी बुद्धिमती थीं। वे बोलीः "नाथ ! आप निश्चिंत रहें। मुझे तो अपने बेटे हरि को पीठ पर बैठा-बैठाकर काम करने का अभ्यास हो गया है। इसे मैं नीचे नहीं गिरने दूँगी। यह भी तो मेरे बेटे हरि जैसा ही है।"

इतना सुनते ही वह ब्राह्मण कुमार नीचे उतर गया एवं एकनाथ जी के चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगा।

कोई हमें क्रोधी, लोभी, अभिमानी बनाने को आये और हम तदनुसार बन जाएँ यह हमारी बुद्धिमानी नहीं है। कोई भी व्यक्ति चाहे जो चाबी लेकर आये और उसी को लगाकर हमारा ताला खोलने लग जाय यह हमारी बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी तो वह है कि उत्पन्न किये गये प्रतिकूल प्रसंग में भी आप तटस्थ रहो। अगर तटस्थ रह जाते हो तो आपकी बुद्धिमत्ता है। अन्यथा केवल सूचनाएँ है, मान्यताएँ हैं, बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान तो एकनाथजी जैसे होते हैं जो विषम परिस्थिति में भी चलित नहीं होते।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं- बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। 'बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ।'

आगे भगवान कहते हैं-

तेजस्तेजस्विनामहम्। 'तेजस्वियों का तेज मैं हूँ।'

तेज से तात्पर्य शरीर के तेज से नहीं किन्तु आत्म तेज से है। कोई व्यक्ति जवारे का रस या आँवले का रस पिये, छाया में रहे अथवा वह स्विटजरलैण्ड का हो तो वह शरीर से तो ज्यादा चमकता हुआ दिखेगा लेकिन श्री कृष्ण इस तेज की बात नहीं कर रहे हैं अपितु उस तेज की बात कर रहे हैं जो जीवनमुक्त महापुरुषों का तेज है। फिर उनका शरीर भले काला हो या गोरा.... किन्तु उनके होने मात्र से हमारा चित्त ऊँची यात्रा करने लगता है। हमारा मन काम से हटकर राम में लगने लगता है।

तेज तो रावण, कंस, सीजर, हिटलर आदि के पास भी था किन्तु कैसा तेज था?बाहर से दिखने वाला तेज था। ऐसे लोगों के निकट बैठने से वे तेजस्वी दिखेंगे एवं आप सिकुड़े हुए दिखोगे किन्तु मन में तो ऐसा ही होगा कि 'ये नाराज न हो जाएँ?' आप अंदर से सिकुड़ते रहेंगे एवं चापलूसी के रास्ते खोजते रहेंगे। इस प्रकार आपकी स्वाभाविकता चली जाएगी एवं कृत्रिमता आती जायेंगी।

श्री कृष्ण उस तेज की बात कर रहे हैं जिसकी वजह से आपका मन कृत्रिम जीवन (Artificial Life) छोड़ कर नैसर्गिकता की तरफ आने लगे, सिकुड़ान छोड़कर सहजता के तरफ आने लगे, अहंकार छोड़ कर आत्मा की तरफ आने लगे। ऐसा तेज श्रीराम के पास है, श्री कृष्ण के पास है, मेरे गुरुदेव पूज्य श्री लीलाशाहजी बापू के पास, कबीर जी, नानकजी जैसों के पास है। ऐसे महापुरुषों के निकट आते ही आपके जीवन में सहजता, स्वाभाविकता आने लगती है। जहाँ सहजता हो, स्वाभाविकता हो, नैसर्गिकता हो, सरलता हो, ऐहिक पदार्थों की गुलामी के बिना सच्चा सुख मिलता हो वहीं परमात्मा का तेज होता है। इसीलिए मैं बार-बार कहता रहता हूँ किः

"सम्राट के साथ राज्य करना भी बुरा है... न जाने कब रूला दे? फकीरों के साथ रहना भी अच्छा है... न जाने कब मिला दे?"

रमण महर्षि के पास दो तरह के व्यक्ति आते थेः एक तो वे जिन्हें तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा थी और दूसरे वे जो उन्हें भगवान मानते थे। जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है एवं जिन्हें तीव्र तड़प होती है वे तत्त्वज्ञान की बात को सुनकर तत्त्व का साक्षात्कार कर लेते हैं लेकिन जिनकी जिज्ञासा मंद होती है एवं बुद्धि की तीव्रता कम होती है ऐसे व्यक्तियों को ब्रह्म की भावना करनी पड़ती है।

रमण महर्षि कहते थेः "यदि तुम ईश्वर के दर्शन करना चाहते हो तो ईश्वर के दर्शन करने वाला कौन है? उसे जान लो। तुम्हारे में और ईश्वर में क्या फर्क है? उसे जान लो।"

इस प्रकार के वचन सुनकर कुछ लोग तो तत्त्व के अन्वेषण में लग जाते थे। बाकी के कुछ लोग कहते किः तत्त्व क्या है... आत्मा क्या है.... मैं कौन हूँ.... इस झंझट में क्यों पड़ना? हमारे लिए तो आप ही भगवान हैं। श्रीकृष्ण थे, श्रीराम थे यह तो हमने सुना है किन्तु अभी वही साक्षात हमारे सामने हैं। हम खुली आँख उनके दर्शन कर रहे हैं, फिर आँखें बंद करके क्या देखना.... क्या सोचना?"

तुम तसल्ली न दो,
सिर्फ बैठे रहो।
महफिल का रंग बदल जायगा,
गिरता हुआ दिल भी सँभल जायेगा।।

रमण महर्षि के पास बाहर का कोई सरकारी पद नहीं था, कोई धनबल या बाहुबल नहीं था किन्तु भीतर का बल आध्यात्मिक बल, आध्यात्मिक तेज इतना था कि उनके चरणों में लोगों को बड़ी शांति मिलती थी। मोरारजी भाई देसाई कहते थेः

"मैं प्राइम मिनिस्टर बना, उस समय भी मुझे वह सुख नहीं मिला जो रमण महर्षि के चरणों में चुपचाप बैठने से मिला है।"

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि बुद्धिमानों की बुद्धि एवं तेजस्वियों का तेज मैं हूँ।

एकनाथ जी महाराज की जो समता है, वह ईश्वर है। रमण महर्षि की, लीलाशाहजी बापू की जो समता है, वह ईश्वर है और आपके अन्दर भी जिस समय समता आये, समझ लेना कि उस समय वह साक्षात् ईश्वर ज्यों-का-त्यों प्रगट हुआ है।

यह जरूरी नहीं कि केवल महात्माओं में ही समता होती है। ईश्वर तो कभी-कभी दुरात्माओं में भी उसी रूप में प्रगट हो सकता है। रजोगुणी, तमोगुणी में प्रगट हो जाता है। सत्त्वगुणी में भी प्रगट हो जाता हैं और गुणातीत में तो प्रगट रहता ही है। गुणातीत में सदैव प्रगट रहता है, बाकी में कभी-कभी प्रगट होता है। जो कभी-कभी प्रगट होता है, उसे एक बार भी ठीक से जान लो कि 'वही है' तो बेड़ा पार हो जाता है।

कभी कोई दुर्घटना हो जाये, बड़े दुःख का प्रसंग आ जाये, फिर भी यदि आपके चित्त में दुःख नहीं होता तो समझ लो कि उस समय बुद्धिमत्ता विद्यमान है। बड़े सुख का, खुशी का प्रसंग

आ जाये, फिर भी आपके चित्त में हर्ष नहीं होता हो तो समझ लो कि उस समय ईश्वरीय अवस्था है।

राजा रणजीतसिंह के जीवन की एक घटना हैः

एक बार रणजीतसिंह वेश बदलकर कहीं जा रहे थे। इतने में एक पत्थर कहीं से आकर उनके सिर में लगा और रक्त बहने लगा। कुछ सिपाही सेवा में लग गये एवं कुछ सिपाही चारों ओर अपराधी को खोजने के लिए दौड़े।

थोड़ी ही देर में सिपाही एक बुढ़िया को पकड़कर ले आये एवं राजा के सामने पेश करते हुए बोलेः

"आपके सिर पर कातिल चोट करने वाली यही बुढ़िया है। बताइये राजन ! अब इसे क्या सजा दी जाय?"

यह सुनकर बुढ़िया काँपने लगी और बोलीः

"अन्नदाता ! मैंने जान बूझकर पत्थर नहीं मारा था। मैं और मेरा बेटा दोनों भूखे थे। मैं पत्थर के द्वारा वृक्ष पर से बेलफल तोड़कर हम दोनों की भूख मिटाना चाहती थी। मैंने फल तोड़ने के लिए पत्थर फेंका था, किन्तु गलती से आपको लग गया, क्षमा करें, राजन !"

तब रणजीत सिंह सिपाही से बोलेः

"इस वृद्धा को एक हजार रुपये दे दिये जाएँ एवं साल भर के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था कर दी जाए।"

वजीर ने आश्चर्यचकित होकर पूछाः "यह आप क्या कर रहे हैं, राजन ! पत्थर मारने वाली को हजार रुपये एवं अन्न-वस्त्र दिला रहे हैं।"

रणजीत सिंहः "जब एक वृक्ष को पत्थर लगता है तो वह भी इन्हें फल देकर तृप्ति प्रदान करता है तो मैं तो मनुष्य हूँ... बुद्धिमान हूँ.... मैं इसे सजा कैसे दे सकता हूँ?"

नरसिंह मेहता ने ठीक ही कहा हैः

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे...
परदुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे....

अर्थात् 'सच्चा वैष्णव तो वही है जो दूसरों के कष्टों को जानता है एवं उन्हें मिटाने के लिए परोपकार करता है फिर भी मन में अभिमान नहीं आने देता।'

संसार तो रणमैदान है। कभी पत्थर की चोट सहनी पड़ेगी तो कभी अपमान की चोट सहनी पड़ेगी। कभी मान्यता के अनुकूल बात होगी तो कभी मान्यता के प्रतिकूल बात होगी। लेकिन चोट का भी सही अर्थ लगाओगे तो धन्यवाद देने लगोगे और धन्यवाद देते-देते आप स्वयं धन्यवादस्वरूप हो जाओगे।

किसी महात्मा की परीक्षा करने के लिए एक युवक अपने कोट की जेब में एक कबूतर ले आया। उसने महात्मा से पूछाः

"बाबाजी ! आप बताइये कि मेरे कोट में क्या है?"

बाबाजीः "कबूतर है।"

युवकः "अच्छा, यह बताइये कि कबूतर जिन्दा है या मरा हुआ?"

बाबाजीः "कबूतर जिन्दा है कि मरा हुआ यह मुख्य बात नहीं है। मैं अगर जिन्दा बोलूँगा तो तुम उसकी गर्दन दबा दोगे और मैं अगर मरा हुआ बोलूँगा तो तुम उसे जिन्दा ज्यों-का-त्यों निकालोगे। अब मैं इसे मरा हुआ बोलता हूँ ताकि तुम इसे जिन्दा निकाल दो और उसके प्राण बच जायें। मैं झूठा पड़ जाऊँगा तो कोई हर्ज नहीं है।"

यह है बुद्धिमत्ता।

'औरों के हित में हमारी बात झूठी हो जाए तो कोई हर्ज नहीं है। बहुत लोगों के लाभ में हमारी ऐहिक देह का लाभ चला जाये तो कोई हर्ज नहीं है' – ऐसा सोचना एवं तदनुसार करना बुद्धिमत्ता है। श्रीकृष्ण इसी बुद्धिमत्ता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं- बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ।

श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर से 'नरो वा कुंजरो वा' कहलवाया। हथियार न उठाने की शपथ ले लेने के बावजूद हथियार उठाया, क्यों? उन्होंने सोचा कि अब अगर हथियार नहीं उठेगा तो अधर्मियों की विजय हो जायेगी। अधर्मी लोग जीत जायेंगे तो हिंसा बढ़ जायेगी। इसीलिए अपनी बात झूठी भी हो जाती है तो कोई बात नहीं किन्तु अधिक लोगों का भला होना चाहिए। यह श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता है।

जैसे, पुत्र चाहे कैसा भी हो, माता-पिता सदैव उसका हित ही चाहते हैं। ऐसे ही हम चाहे जैसी अवस्था में हों, चाहे जैसी मान्यताओं में जीते हों, परमात्मा सदैव हमारा हित ही चाहते हैं।

हम भी परमात्मा के जितने करीब होते हैं उतने ही हमारे द्वारा बहुजनहिताय कार्य होते हैं। जब बहुजनहिताय प्रवृत्ति होने लगे, बहुजनहिताय विचार होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि बुद्धि ईश्वराभिमुख है। अपनी देह के लिए, अपने कुटुम्ब के लिए ही जीवन एवं विचार हो तो

समझ लेना कि बुद्धि पशुता की तरफ है। लोग अपने बेटे-बेटी के विवाह में लाखों रुपये खर्च कर देते हैं किन्तु भूखे पड़ोसी या किसी गरीब के लिए 200-500 रुपये भी खर्च करते हैं तो उसका बयान किये बिना नहीं रहते कि 'हमने इतना किया.... उतना किया....' यह बुद्धिमानी नहीं वरन् बुद्धि का दिवाला है।

एक आदमी जल्दी-जल्दी 'हेअर कटिंग सैलून' में गया और नाई से बोलाः

"जल्दी करो। मुझे ट्रेन पकड़ना है। जल्दी से मेरे बाल काट दो।"

नाईः "अच्छा... बैठो।"

व्यक्तिः "कुर्सी पर तो नहीं बैठूँगा, जल्दी है।"

नाईः "अच्छा... टोपी तो उतारो।"

व्यक्तिः "टोपी भी नहीं उतारूँगा और कुर्सी पर भी नहीं बैठूँगा। मैं जल्दी में हूँ मेरे बाल काट दो।"

नाईः "हजूर ! बाल काटने के लिए ही मैंने मशीन हाथ में ली है। पर आप टोपी तो उतारो !"

व्यक्तिः "मुझे बहुत जल्दी है।.... और टोपी तुम्हारे आगे कैसे उतारूँ? मुझे हजारों लोग जानते हैं और मैं तुम्हारे आगे टोपी उतारूँ यह कैसे हो सकता है?"

ऐसे ही संत के आगे, भगवान के वचनों के आगे आप अपनी बुद्धिरूपी टोपी नहीं उतारोगे, बुद्धि में जो भरा है उसे नहीं निकालोगे और फिर भी बुद्धि को शुद्ध करना चाहोगे तो यह कैसे संभव होगा? हमारी मान्यता तो हमारे पास ही रहे और ज्ञान हमारे अन्दर आ जाये – यह काम मुश्किल है।

सच पूछो तो, हम बुद्धि में इतनी बेवकूफियाँ भरे हुए होते हैं कि हमारी बुद्धि में तत्त्वज्ञान का रस प्रवेश ही नहीं कर पाता। अन्यथा, भगवान तो सदैव हमारे भीतर अन्तर्यामी रूप से प्रकाश करते रहते हैं एवं बाहर भी संत के द्वारा बुलवाते रहते हैं किन्तु ..... **स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।** जिसके पुण्य कम होते हैं, पाप ज्यादा होते हैं ऐसे आदमी को शास्त्र-वचन पर, संत-वचन पर विश्वास ही नहीं होता। सत्संग में बैठने की रुचि ही नहीं होती। जप ध्यान करने की रूचि ही नहीं होती।

महाराज ! तन में शक्ति हो तो उसे सेवा में लगा दो। मन है उसे दूसरे को प्रसन्न करने में लगा दो क्योंकि दूसरे के रूप में भी वही परमात्मा है। दो पैसे हैं तो दूसरों के आँसू पोंछने में लगा दो। बुद्धि है तो दूसरे की भ्रमणा हटाने में लगा दो। यही बुद्धिमानी है।

जिस बुद्धि से आपको परमात्मा का पता न चले, जिस बुद्धि से आपको आत्मविश्रान्ति न मिले, जिस बुद्धि से आपको शत्रु के भीतर छुपा हुआ ईश्वर न दिखे, जिस बुद्धि से आपको मृत्यु में परमात्मा की चेतना न दिखे वह बुद्धि व्यावहारिक बुद्धि है। ऐसी व्यावहारिक बुद्धि के तरफ श्रीकृष्ण इशारा नहीं करते, वरन् श्रीकृष्ण का इशारा पारमार्थिक बुद्धि की तरफ है।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। जो बुद्धिमान की बुद्धि है, जो ऋतम्भरा प्रज्ञा है, वह मैं हूँ।

कई लोग सूचना को ही ज्ञान मानने की भूल कर बैठते हैं। सूचना ज्ञान नहीं है, ज्ञान का आभास मात्र है। ज्ञान तो भीतर की हृदय की चीज है। बाहर की पढ़ाई-लिखाई, पद-प्रतिष्ठा, धन-सत्ता, रूप-सौन्दर्य आदि से ज्ञान का कोई मतलब नहीं है। आत्मज्ञान के लिए इन सबकी कोई जरूरत नहीं है। लोग जन्मते हैं अज्ञानी, फिर जीवनभर खोपड़ी में सूचनाएँ भरते रहते हैं और अपने को ज्ञानी समझ लेते हैं। किन्तु दुःख की बात है कि वे अपने को ज्ञानी मानकर अज्ञानी रहकर ही मर जाते हैं। उनको आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। फिर वे चाहे कितने भी धनवान क्यों न हों किन्तु शास्त्र की नजर से उन्हें कंगाल ही कहा जाता है। धनवान होते हुए भी वे महाकंगाल हैं क्योंकि सुख के लिए उनकी बुद्धि बाहर भटकती है और उन्हें अन्य जन्मों में ले जाती है। ऐसे लोग विद्वान होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से बुद्धु ही माने जाते हैं।

बुद्ध और बुद्धू दोनों बाहर से दिखेंगे तो एक जैसे। बुद्धू बहुत शोरगुल करता हुआ दिखेगा और बुद्ध शांत दिखेंगे, आलसी दिखेंगे लेकिन बाहर से आलसी दिखने वाले बुद्ध भीतर से बड़ी ऊँचाई पर स्थित होते हैं।

एक बार भगवान बुद्ध अपने शिष्य आनंद के साथ कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक कुएँ पर जाकर दोनों खड़े हो गये। उस कुएँ पर एक आदमी पानी भर रहा था। बहुत शोरगुल हो रहा था, किन्तु उसकी बाल्टी में इतने छिद्र थे कि उसके हाथ में आते-आते बाल्टी खाली हो जाती थी। काफी देर तक बुद्ध एवं आनंद यह दृश्य देखते रहे। फिर दोनों आगे बढ़ चले।

चलते-चलते बुद्ध ने कहाः

"देखा उस आदमी को? मुझे प्यास लगी थी इसलिए मैं वहाँ नहीं रूका था वरन् तुझे बताने के लिए रूका था कि संसारियों का ऐसा ही हाल है। उनके जीवन में देखो तो बड़ा शोरगुल दिखाई देता है, बड़ी प्रवृत्ति दिखाई देती है। जीवन की बाल्टी आत्मरस से उठती तो है किन्तु ऊपर आते-आते खाली हो जाती है। लगता है कि कुछ पा रहे हैं किन्तु अंत समय तक जीवन की बाल्टी खाली की खाली रह जाती है। हे आनंद ! आज कल के लोग ऐसी बुद्धि वाले हैं। बाहर की विद्या भर-भरकर अपने को विद्वान, बुद्धिमान मान लेते हैं किन्तु आत्मज्ञान से उनकी बाल्टी नहीं भर पाती है और वे रीते-के-रीते रह जाते हैं।"

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

धर्मानुकूल आचरण से कल्याण

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।

"हे भरतश्रेष्ठ ! बलवानों का, आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य मैं हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम मैं हूँ।

(गीताः 7.11)

बलं बलवतां चाहम्। मैं बलवानों का बल हूँ। भगवान अपने को बलवानों का बल को कहते हैं किन्तु कैसा बल? **कामरागविवर्जितम्...** कामनाओं एवं आसक्ति से रहित बल।

संसार में जितना भी बल है, वह सब परमेश्वर का ही बल है और बल के बिना तो कोई कार्य संभव ही नहीं है। किन्तु वह परमेश्वरीय बल नजर नहीं आता। क्यों? क्योंकि काम और राग से हमारा चित्त आक्रान्त हो जाता है। काम और राग हमारे ऊपर चढ़ बैठते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण ऐसे बल की ओर संकेत करते हैं जो काम और राग (आसक्ति) से रहित हैं।

'काम' क्या है? अप्राप्त की प्राप्ति के लिए इच्छा। राग क्या है? जो प्राप्त है वह बना रहे एवं आगे और भी मिले। यदि परमात्मा के बल को समझना चाहते हो तो इन दोनों बातों को केवल थोड़ी देर के लिए भी हटा दो। फिर परमात्म-बल का अहसास करना आसान हो जाएगा।

किन्तु हम करते क्या हैं? काम एवं राग के कारण हमने अपने आपको संसार में उलझा दिया है। एक मकान में रहते हैं, दूसरा मकान चाह रहे हैं। एक दुकान है, दूसरी दुकान खोलने का विचार कर रहे हैं। इस प्रकार 'खपे...खपे....' (चाहिए, चाहिए....) में ही जीवन खपा रहे हैं और परमात्म-बल को पहचानने की फुर्सत ही नहीं मिल रही।

चाह ने ही हमारे बल को बिखेर दिया है, बाँट दिया है। चाह से नहीं वरन् त्याग से परमात्मा का बल प्रगट होता है।

मंकी नाम के एक महात्मा थे। उन्होंने सोचा कि खेती करें। उन्होंने दो बछड़े खरीद लिए। दोनों को रस्सी से एक साथ जोड़ दिया ताकि दोनों कहीं भाग न जाएं। एक जगह एक ऊँट बैठा था। वे दोनों बछड़े चलते-फिरते ऊँट की दोनों ओर से निकले। दोनों को बँधी हुई रस्सी जब ऊँट

के ऊपर से गुजर रही थी तब ऊँट भड़ककर उठ खड़ा हुआ। दोनों बछड़ों बाँधनेवाली रस्सी ऊँट के गले में लटक गई। ऊँट के दोनों ओर दोनों बछड़े लटक गये और मर गये।

मंकी ऋषि ने देखा कि जैसे आदमी के गले में दोनों ओर मणि लटकते हैं, वैसे ही ऊँट के गले में मेरे दोनों बछड़े मरे हुए लटक रहे हैं। अब खेती कैसे होगी? चलो, खेती खत्म।

उनका विवेक-वैराग्य जाग उठा। वे प्रभु के रंग में रंग गये और उन्हीं के द्वारा आध्यात्मिकता अनुभव से संपन्न जिस गीता का निर्माण हुआ वही **मंकी गीता** के नाम से प्रसिद्ध हुई।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब कामना ही नहीं रहेगी तो क्रिया कैसे होगी? और अगर क्रिया ही नहीं होगी तो सब लोग निष्क्रिय और निकम्मे हो जायेंगे। इसी भगवान आगे कहते हैं किः "सब भूतों में धर्म के अनुकूल कर्म मैं हूँ। **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।** हे अर्जुन 'काम' भी मेरा ही स्वरूप है किन्तु वह काम जो शास्त्र और धर्म के अनुकूल है।"

धर्मानुकूल काम मनुष्य के आधीन होता है। परन्तु आसक्ति, कामना, सुख-भोग आदि के लिए जो काम होता है उस काम में मनुष्य पराधीन हो जाता है और उसके वश में होकर वह न करने लायक शास्त्रविरुद्ध कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्र तथा धर्म के विरुद्ध ऐसे कार्य ही पतन एवं समस्त दुःखों के कारण होते हैं।

संत ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा हैः "धर्मयुक्त काम इन्द्रियों की इच्छा के अनुसार बर्ताव करता है, फिर भी उनको धर्म के विरुद्ध नहीं जाने देता। यह काम जब निषिद्ध कर्मों की पगडण्डी छोड़कर नियमित कर्मों के महामार्ग पर चलता है तब संयम की मशाल उसके पास होती है। यह काम इस तरह से व्यवहार करता है कि धर्म का आचरण पूर्ण होता है और सांसारिक पुरुष मोक्ष पाता है।"

धर्म अर्थात् मन को धारण करने वाली वस्तु है। हम अपनी जीभ को बुरी बात बोलने से रोक पाते हैं या नहीं? यदि हम गंदी बात बोलने से जीभ को रोक पाते हैं तो समझना चाहिए कि हमारे अन्दर धर्म है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए। यदि हमारा मन धर्मानुकूल है तो इन्द्रियाँ स्वतः ही धर्मानुकूल आचरण करेंगी और धर्मानुकूल आचरण से जन्म-मरण के चक्र से छूटने की योग्यता सहज ही प्राप्त हो जायगी।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

स्वयं को गुणातीत जानकर मुक्त बनो

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।

'और जो भी सत्वगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण से तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मेरे से ही होने वाले हैं ऐसा जान। परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं।'

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।

'गुणों के कार्यरूप (सात्विक, राजस और तामस) इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है इसलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को वह तत्त्व से नहीं जानता।'

(गीताः 7.12,13)

भगवान कह रहे हैं कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के प्रभाव से प्रभावित होकर जीव मुझको तत्त्व से नहीं जान पाता है।

छः प्रकार के जीवात्मा होते हैं- सात्विक-सात्त्विकी। केवल सात्त्विकी। राजस-राजसी। केवल राजसी। तामस-तामसी। केवल तामसी।

सात्विक-सात्त्विकीः जो निष्काम भाव से शुभ कर्म करते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानते वे कहलाते हैं सात्विक-सात्त्विकी। ऐसे सात्त्विक-सात्त्विकी लोग रजो-तमोगुणी से तो ऊँचे हैं लेकिन अपनी वास्तविक ऊँचाई को भूले हुए हैं। वे गुणों का फल और स्वभाव को अपना ही स्वभाव मानते हैं। ऐसे लोगों को मरने के बाद स्वर्ग अनायास ही मिल जाता है किन्तु अपने को न जानने के कारण स्वर्ग में पुण्य भोगने के बाद पुनः जन्मना-मरना पड़ता है।

केवल सात्त्विकीः जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश। वे अपने सत्य स्वभाव को जानते हैं। वे देह को मैं नहीं मानते एवं जगत को सत्य नहीं मानते। सत्ता एवं अस्तित्व उनको ज्यों का त्यों दिखता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश केवल सात्त्विकी हैं, सत्य में ही टिके हैं।

राजस-राजसीः जिनमें राजसी स्वभाव की प्रधानता है ऐसे लोग जन्म-जन्मान्तर तक घटीयंत्र की नाई यात्रा करते रहते हैं। हर शरीर में जाकर सुख भोगने का अहसास करते हैं लेकिन मिलता दुःख ही है। मिला हुआ सुख टिकता नहीं है एवं सुख भोगने की इन्द्रियाँ भी एक जैसी नहीं रहतीं। फिर वे बीमार, वृद्ध होकर मर जाते हैं। ऐसे लोग दुःख में दुःखी होकर, माया के आधीन होकर, गुणों के आधीन होकर अपने को भूले रहते हैं एवं सारे दुःखों को अपने में मान बैठते हैं।

केवल राजसीः राजस-राजसी की अपेक्षा तो केवल राजसी ठीक हैं क्योंकि वे प्रवृत्ति तो करते हैं। यहाँ का सुख भी चाहते हैं एवं भविष्य में सुख मिले इसलिए भी प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोग अच्छे कर्म करके अच्छा कहलाना चाहते हैं। किन्तु ये लोग उन राजस-राजसी की तरह उसी में ही उलझे नहीं रहते। वे विवेक जगा लेते हैं कि पाने की इच्छा का, भोगने की इच्छा का कभी अंत नहीं होगा वरन् शरीर का अंत हो जायेगा।

दुनिया के मजे हर्गिज कम न होंगे।
चर्चे यही रहेंगे अफसोस ! हम न होंगे।।

अगर राजसी व्यक्ति का ऐसा विवेक जाग जाये तो फिर वह कर्म तो करेगा लेकिन कर्म करके कर्म का फल भोगकर मस्त नहीं होगा। अपितु कर्म का फल ईश्वर को अर्पण कर देगा। जो कर्म के फल को ईश्वरार्पित कर देता है उसके हृदय में परमात्मा विवेक जगा देते हैं किः "इतना भोगा तो क्या? इतना सँभाला तो क्या? अंत में तो यह शरीर जल ही जायेगा या दफना दिया जायेगा। मेरे आने से पहले भी यह दुनिया चल रही थी, मेरे जाने के बाद भी चलती रहेगी... अभी भी मैं बड़ा कर्ता-भोक्ता हूँ यह मानना बेवकूफी के सिवाय और क्या है? सारी 'मैं-मैं' नासमझी के कारण ही होती है और मैं बदलती रहती है। मैं विद्वान हूँ... मैं बीमार हूँ... मैं तन्दरुस्त हूँ.... इस प्रकार मैं का परिवर्तन चलता ही रहता है। इस नकली मैं को मैं मानने के कारण असली मैं को भूल गया। सारी मैं-मैं जहाँ से उठती है उस परमेश्वर को तो खोज ! इस प्रकार का विवेक जगने पर राजसी व्यक्ति किसी सदगुरु की खोज करता है एवं उन्हें पाकर अपने शुद्ध, बुद्ध, सात्त्विक स्वरूप को जानकर मुक्त हो जाता है। राजस-राजसी की अपेक्षा केवल राजसी उत्तम माने जाते हैं।

तामस-तामसीः तामस-तामसी का जीवन होता है आलस्य, निद्रा, प्रमाद, दुराचार, शराब-कबाब आदि से ग्रस्त। मंदिर में जाने की बात नहीं, माता पिता का सम्मान नहीं। मेरा तो मेरे बाप का और तेरे में भी मेरा हिस्सा... ऐसी वृत्ति उसकी होती है। वह जगत को ठोस सत्य मानता है। ये सब तामस-तामसी के लक्षण हैं। कुछ भी करो पर मजा लो... पार्टियाँ, क्लब,

शराब-कबाब.... यही उसकी जिन्दगी होती है। ऐसे लोग थोड़ी देर के लिए भले सुख का अहसास कर लें लेकिन परिणाम में घोर दुःख पाते हैं। ऐसे लोग राग-द्वेष में इतने उलझ जाते हैं कि मार-काट करने में उनको झिझक नहीं होती। ऐसे लोग मरने के बाद पाषाण और वृक्षादि जड़ योनियाँ पाते हैं।

केवल तामसीः जो केवल तामसी हैं वे कर्मों में अटक जाते हैं। वे भूत-भैरव की उपासना तो करते हैं किन्तु उनमें थोड़ी-बहुत भगवदवृत्ति भी रहती है। ऐसे व्यक्तियों को दैवयोग से यदि कोई संत मिल जाये, सत्संग मिल जाये तो उनकी वृत्ति तमस से रजस में आ जाती है एवं रजस से सत्त्व में भी आ जाती है। जैसे वालिया लुटेरे को मिल गये देवर्षि नारदजी तो वाल्मीकि ऋषि हो गये। आम्रपाली वेश्या को तथा माँ-बाप एवं समाज की अवहेलना करके भी जो भोगी जीवन में सराबोर हो रही थी उस पटाचारा को मिल गये भगवान बुद्ध तो दोनों ही महान् साध्वियाँ बन गयीं।

इस प्रकार तामस-तामसी से केवल तामसी ठीक है। राजस-राजसी से केवल राजसी ठीक है। सात्त्विक-सात्त्विकी से केवल सात्त्विकी ठीक है किन्तु इन तीनों गुणों में जो कर्म होते हैं, भगवान कहते हैं कि वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। न त्वहं तेषु ते मयि। यहाँ भगवान का संकेत इस ओर है कि जैसे मैं जानता हूँ कि वे कर्म मुझमें नहीं हैं और उनमें मैं नहीं हूँ वैसे ही यदि यह जीव भी जान जाये तो उसे भी अपने स्वभाव का, परमात्म स्वभाव का पता चल जाये।

ईश्वर को पाने का अधिकार सबको है। तामसी एवं राजसी स्वभाव के लोग भी भगवान को पा सकते हैं लेकिन जब जगत का आकर्षण होता है, उसमें सत्यबुद्धि होती है और वैसे ही लोगों का संग बना रहता है तो लोग तामस-तामसी, राजस-राजसी, सात्त्विक-सात्त्विकी बने रहते हैं एवं माया के चक्कर में घूमते रहते हैं।

मान लो किसी आदमी को लोहे की जंजीर से बाँध दिया गया हो और फिर लोहे की जंजीर हटाकर चाँदी की जंजीर डाल दी जाये तो क्या वह सोचेगा किः 'वाह ! लोहे की नहीं, चाँदी की जंजीर है?' नहीं, जंजीर तो जंजीर ही है। चाहे लोहे की हो, चाहे चाँदी की हो और चाहे सोने की हो जंजीर क्यों न हो? ऐसे ही माया के गुणों में उलझना तो उलझना ही है। फिर चाहे सात्त्विक गुणों में उलझो, चाहे राजसी गुणों में उलझो चाहे तामसी गुणों में उलझो।

एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न कियाः "नमक हलाल कौन है और नमकहराम कौन है?"

बीरबल ने एक कुत्ता एवं एक जमाई लाकर खड़ा कर दिया और बोलेः

"जहाँपनाह ! यह कुत्ता तो है नमकहलाल जो रूखा-सूखा, फेंका हुआ एवं जूठन को खा लेता है फिर भी वफादार रहता है। बिना कहे भी अपना कर्तव्य निभा लेता है और यह जमाई है नमकहराम। कई बार ससुराल के घर की रोटी खाता है और कन्यादान लेता है। फिर भी जब ससुराल आता है तो सास-ससुर के लिए तो मानो मौत आती है। जमाई = जम आई = मौत आई। न जाने कब रूठ जाये? न जाने कब क्या माँग ले? अगर माँगी हुई वस्तु न दी तो बेटी पर कसर निकालेगा। कैसे भी करके जमाई को राजा रखना पड़ता है।"

यह सुनकर अकबर ने कहाः "सब जमाईयों को फाँसी लगा दो।"

बीरबल को अकबर ने आदेश दे दिया। बुद्धिमान बीरबल ने कारीगरों को रोजी-रोटी मिले, कइयों को कार्य मिले, इस उद्देश्य से एक बड़े मैदान में काम शुरू करवा दिया। कई तरह के फाँसे... रस्सी के, सूती, रेशमी, लोहे, काँसे, चाँदी आदि विभिन्न प्रकार के फाँसे बनवाने शुरू कर दिये। एक फाँसा सोने का भी तैयार करवा दिया। फिर अकबर से कहाः

"जहाँपनाह ! जमाइयों को फाँसी देने के लिए मैदान में सब तैयारियाँ हो गयी हैं। आप केवल उदघाटन करने के लिए चलिए।"

अकबर गया मैदान में। देखा कि कई किस्म के फाँसे तैयार हैं। घूमते-घूमते जब चाँदी के फाँसे देखे तो पूछाः "ये चाँदी के फाँसे किसके लिए हैं?"

बीरबलः "जहाँपनाह ! ये वजीरों के लिए हैं। आम आदमी की श्रेणी के हिसाब से सूत, रेशम, ताँबे आदि के फाँसे बने हैं लेकिन वजीर तो आम आदमी नहीं हैं इसलिए उनके लिए चाँदी के फाँसे हैं।"

अकबर ने पूछाः "अच्छा, पास में जो सोने का लटक रहा है वह किसके लिए है?"

बीरबलः "जहाँपनाह ! वह आपके लिए है। आप भी तो किसी के जमाई हैं।"

तब अकबर बोल उठाः "आदेश निरस्त कर दो।"

कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक अपने को देह मानोगे तब किसी के जमाई तो किसी के ससुर, किसी के बेटे तो किसी के बाप, किसी के नौकर तो किसी के मालिक बनते रहोगे और सारी बनावट होती है गुणों में। इन गुणों को जो सत्ता-स्फूर्ति देता है उस आत्मा में कोई बनावट, बदलाहट नहीं होती और वही आत्मा वास्तव में आप हो। लेकिन यह बनावट जिन गुणों में है उन गुणों से तादात्म्य कर लेते हो, अपने को उनसे जोड़ लेते हो, जुड़ा हुआ मान लेते

हो और अपने आपको भूल जाते हो इसीलिए सुखी-दुःखी होते रहते हो, चिन्तित-भयभीत होते रहते हो एवं जन्मते मरते रहते हो।

भगवान को तत्त्व से न जानने के कारण ही जीव बेचारा दुःखों को प्राप्त होता रहता है।

कितना भी भारी दुःख क्यों न आ जाये, या कितना भी महान् सुख क्यों न आ जाये, उस वक्त सावधान रहो कि यह सुखाकार वृत्ति भी गुणों की है और दुःखाकार वृत्ति भी गुणों की है। 'मिल गया' यह भी गुणों में है और 'छूट गया' यह भी गुणों में है। जन्म होना भी गुणों में है और मर जाना भी गुणों में है। पापात्मा होना भी गुणों में है और धर्मात्मा होना भी गुणों में है। लेकिन अपने को सुखी-दुःखी, जन्मने-मरने वाला, पापात्मा-धर्मात्मा मत मानो, वरन् अपने को तो परमात्मा का मानो। वृत्ति अगर संसार की ओर होगी, गुणों में होगी तो उलझ जाओगे एवं वृत्ति अगर परमात्मा की ओर होगी तो संसार में रहते हुए भी मुक्त हो जाओगे।

जिसका उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति ही है वह इन गुणों से और इनके प्रभावों से अपने को बचाकर शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप में जाग जाता है। फिर प्रकृति के गुण-दोषों का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। वह उस अवस्था को पा लेता है जिस अवस्था में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश विचरण करते हैं।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

भगवान की माया को कैसे तरें?

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मयामेतां तरन्ति ते।।

'यह अलौकिक अर्थात् अति अदभुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरंतर भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं।'

(गीताः 7.14)

यह माया अलौकिक है अर्थात् लौकिक नहीं है। इसकी थाह लौकिक बुद्धि से, लौकिक कल्पनाओं से नहीं पायी जा सकती है। ज्यादा पढ़कर या अनपढ़ रहकर भी इसकी थाह पाना संभव नहीं है। धनवान बनकर या निर्धन रहकर भी इसकी थाह पाना संभव नहीं है। भगवान कहते हैं कि इसकी थाह तो केवल वही पा सकता है जो केवल मुझे ही भजता है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

कभी-कभी हम भगवान का भजन तो करते हैं किन्तु साथ ही साथ सुविधाओं का भी भजन करते हैं। ठण्डी-ठण्डी हवा बह रही है.... भगवान का भजन हो रहा है.... बड़ा आनंद आ रहा है। लेकिन ठण्डी हवा में जरा-सी किसी को ठोकर लग गयी तो भजन और भगवान दोनों गायब हो जाते हैं। भगवान कहते हैं- **मामेव ये प्रपद्यन्ते.....** मुझे ही जो भजते हैं। भजन भगवान का ही होना चाहे, सुविधाओं का नहीं। भगवान के साथ-साथ देह का, कुटुम्बियों का पड़ोसियों का, मान्यताओं का भजन नहीं, वरन् केवल भगवान का ही भजन होना चाहिए।

जो लोग भगवान को छोड़कर केवल मान्यताओं में उलझे हैं उनसे तो भगवान का एवं मान्यताओं का, दोनों भजन करने वाला ठीक है लेकिन मान्याताओं का भजन जब तक मौजूद रहता है तब तक संसारसागर से पूर्ण रूप से नहीं तरा जा सकता। कोई युद्ध कर रहा हो, बाणों की बौछार हो रही हो फिर भी उसे अपने में कर्तृत्व न दिखे, हो रहा है.... मैं नहीं कर रहा... यह भाव रहे तो ऐसा मनुष्य संसार सागर से अवश्य तर जाता है।

मान लो, कोई मछुआरा जाल फेंकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, चारो दिशाओं में वह जाल फेंकता है। बड़ी-छोटी, चतुर सभी मछलियाँ उसके जाल में फँस जाती हैं किन्तु एक मछली जो उसके पैरों के इर्द-गिर्द घूमती है वह कभी उसकी जाल में नहीं फँसती क्योंकि मछुआरा वहाँ जाल डाल ही नहीं सकता। ऐसे ही चतुर आदमी भी माया में फँसे हैं, बुद्धू आदमी भी फँसे हैं, भोगी भी फँसे हैं और त्यागी भी फँसे हैं, विद्वान भी फँसे हैं, यक्ष भी फँसे हैं और किन्नर भी फँसे हैं, गंधर्व भी फँसे हैं और देव भी फँसे हैं, आकाशचारी भी फँसे हैं और जलचर भी फँसे हैं, भूतलवाले भी फँसे हैं और पातालवाले भी फँसे हैं... सब माया के इन तीन गुणों सत्त्व, रज और तम में से किसी-न-किसी गुण में फँसे हैं। सभी जाल में हैं लेकिन जो पूरी तरह से ईश्वर की शरण में चले गये हैं वे धनभागी इस मायाजाल से बच गये हैं।

'ईश्वर की शरण क्या है? ईश्वर क्या है? इस बात का पता चल जाये और शरण में रहने वाला कौन है' इस बात का पता चल जाये तभी ईश्वर की शरण में जाया जा सकता है। कोई कहता हैः

"मैं भगवान की शरण हूँ।"

"अच्छा ! तो तू कौन है?"

"मै हूँ मोहनभाई।"

हो गयी फिर तो भगवान की शरण....

अरे ! पहले तुम अपने को जानो कि तुम कौन हो और भगवान क्या है? तभी तो तुम्हें भगवान की शरण का पता चलेगा। भगवान की शरण मान लेना अलग बात है और जान लेना अलग बात। शुरुआत में मानी हुई शरण भी ईमानदारी की है तो उस शरण को जानने का भी सौभाग्य मिल जायेगा लेकिन मानी हुई शरण भी हम ईमानदारी से नहीं निभाते। हम कहते तो हैं कि "मैं भगवान की शरण हूँ" लेकिन अन्दर से ऐंठते रहते हैं कि 'देखो, मैंने कहा वही हुआ न!' इस प्रकार व्यक्ति अपनी परिच्छिन्नता बनाये रखता है और ऐसी बात नहीं कि केवल अच्छी मान्यताएँ ही बना कर रखता है। अहंकार तो सब प्रकार का होता है। अच्छे का भी अहंकार होता और बुरे का भी अहंकार होता है। कर्त्तापन अच्छे कर्म का भी होता है और बुरे कर्म करने का भी होता है और कर्म नहीं करने का भी होता है।

'मैं तो कुछ नहीं करता...' यह कहकर भी न करने वाला तो मौजूद ही रहता है। सब भगवान करते हैं.... मैं कुछ नहीं करता... भीतर से समझता है कि मैं नम्र हूँ। .... तो मैं तो बना ही रहा। अरे ! अपराधी को भी अहंकार होता है।

मैंने बतायी थी एक बातः

जेल में कोई नया कैदी आया। सिपाही ने उसे एक कोठरी खोलकर अन्दर कर दिया। नया कैदी जैसे ही उस कोठरी में प्रविष्ट हुआ तो पुराना कैदी बोलाः

"कितने महीने की सजा है?"

"छः महीने की।"

"तू तो नवसिखिया है। दरवाजे पर ही अपना बिस्तर लगा। हम बीस साल की सजा वाले बैठे हैं। अच्छा... यह बता, डाका कितने का डाला?"

"पाँच हजार का।"

"इतना तो हमारे बच्चे भी डाल लेते हैं। हमने तो दो लाख का डाका डाला है। मैं तो यहाँ तीसरी बार आया हूँ। मैंने तो इसे अपना घर ही बना लिया है।"

इस प्रकार बुरे कर्म का भी अहंकार मौजूद रहता है। माया सभी को अपने जाल में फँसा लेती है।

चिलम पीकर कोई बैठा रहे और कहेः 'तीन घण्टे हम भजन में रहे....' यह तामसिक माया है। दान पुण्य करके कोई कहेः 'हमने लाख रुपयों का दान करके लोगों का भला किया.. यह राजसी माया है। कोई कहेः 'इष्टदेव ही सब कुछ करवाते हैं... इष्टदेव के लिए सब कुछ हुआ है... मैं तो कुछ नहीं हूँ... अपने से वह जितना करवाये उतना अच्छा....' यह सात्त्विक माया है। माया तामसिक हो, राजसिक हो या सात्त्विक, है तो माया ही। इसीलिए भगवान कहते हैं-

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि माया मनोमयम्।।

'मन से, वाणी से, आँखों से, नेत्रों आदि से जो भी ग्रहण होता है वह सब नश्वर है, मनोमय, मायामात्र है ऐसा जानो।'

माया का सात्त्विक गुण हो, राजसिक गुण हो या तामसिक गुण हो, है सब मायामात्र, खेलमात्र। माया में रहकर माया से तरना कठिन हो जाता है किन्तु यदि आत्मा में रहो तो माया अति तुच्छ भासती है। जैसे, स्वप्न में हम यदि स्वपन के सब आदमियों को वश में करना चाहें तो मुश्किल है किन्तु जरा-सी आँख खोल दी तो पता चल जाता है कि उनमें कोई दम नहीं था, सब मेरी ही करामात थी। ऐसे ही हम जब माया में रहकर, माया के साधनों से माया में ही सुखी होना चाहते हैं तो मुश्किल होता है। अगर हम आत्मा आ जाते हैं तो माया अपना ही खेल नजर आने लगती है।

किन्तु होता क्या है? हम गुणों में इतने फँस जाते हैं कि गुणों को जो सत्ता देता है उसका पता नहीं और गुणों को अपने में आरोपित कर लेते हैं। यहीं गड़बड़ी हो जाती है और यह गड़बड़ न जाने कितनी सदियों से चली आ रही है। गड़बड़ की आदत भी पुरानी हो गयी है इसलिए यह गड़बड़ सही लग रही है और सही बात आत्मविद्या बड़ी कठिन लग रही है। गुणों की बातें बड़ी रसीली लगती हैं। अभी तक हम गुणों में ही जीते आये हैं और शरीर को ही मैं मानते आये हैं। निर्गुण शुरुआत में रसप्रद नहीं लगता किन्तु सारे गुण उसी से आते हैं।

इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं- 'यह अलौकिक अति अदभुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है... दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया...।'

माया माने धोखा। कभी सात्त्विक धोखा, कभी राजसिक धोखा तो कभी तामसिक धोखा। इन गुणों की मात्रा भी घटती-बढ़ती रहती है। कभी सत्त्वगुण ज्यादा, कभी रजोगुण ज्यादा तो कभी तमोगुण ज्यादा होता है। जब सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती है तो व्यक्ति तन्दरुस्त, फुरतीला, प्रसन्न एवं अपने को ज्ञानी-ध्यानी मानता है। जब रजोगुण की मात्रा बढ़ती है तब व्यक्ति अपने को होशियार, चालाक, धनी-मानी महसूस करने लगता है। जब तमोगुण की मात्रा बढ़ जाती है तब आलस्य, निद्रा एवं क्षुद्र अहंकार से ग्रस्त हो जाता है। इसी बात को स्वामी रामतीर्थ अपनी भाषा में कहते हैं-

कोई हाल मस्त, कोई माल मस्त, कोई तूती मैना सूए में।
कोई खान मस्त, पहरान मस्त, कोई राग रागिनी दोहे में।।

कोई अमल मस्त, कोई रमल मस्त, कोई शतरंज चौपड़ जुए में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, पड़े अविद्या कुएँ में।।
कोई अकल मस्त, कोई शकल मस्त, कोई चंचलताई हाँसी में।
कोई वेद मस्त, कितेब मस्त, कोई मक्के में कोई काशी में।।
कोई ग्राम मस्त, कोई धाम मस्त, कोई सेवक में कोई दासी में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, बँधे अविद्या फाँसी में।।
कोई पाठ मस्त, कोई ठाट मस्त, कोई भैरों में, कोई काली में।
कोई ग्रन्थ मस्त, कोई पन्थ मस्त, कोई श्वेत पीतरंग लाली में।।
कोई काम मस्त, कोई खाम मस्त, कोई पूरन में, कोई खाली में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, बँधे अविद्या जाली में।।
कोई हाट मस्त, कोई घाट मस्त, कोई वन पर्वत ऊजारा[1] में।
कोई जात मस्त, कोई पाँत मस्त, कोई तात भ्रात सुत दारा में।।
कोई कर्म मस्त, कोई धर्म मस्त, कोई मसजिद ठाकुरद्वारा में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, बहे अविद्या धारा में।।
कोई साक[2] मस्त, कोई खाक मस्त, कोई खासे में कोई मलमल में।
कोई योग मस्त, कोई भोग मस्त, कोई स्थिति में, कोई चलचल में।।
कोई ऋद्धि मस्त, कोई सिद्धि मस्त, कोई लेन देन की कलकल में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, फँसे अविद्या दलदल में।।
कोई ऊर्ध्व मस्त, कोई अधः मस्त, कोई बाहर में, कोई अंतर में।
कोई देश मस्त, विदेश मस्त, कोई औषध में, कोई मन्तर में।।
कोई आप मस्त, कोई ताप मस्त, कोई नाटक चेटक तन्तर में।
इक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, फँसे अविद्या अन्तर में।।
कोई शुष्ट[3] मस्त, कोई तुष्ट[4] मस्त, कोई दीरघ में कोई छोटे में।
कोई गुफा मस्त, कोई सुफा मस्त, कोई तूंबे में कोई लोटे में।।
कोई ज्ञान मस्त, कोई ध्यान मस्त, कोई असली में कोई खोटे में।
इक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब, रहे अविद्या टोटे में।।

1. उजाड़, 2. रिश्तेदारी, 3, खाली, अतृप्त 4. प्रसन्न चित्त।

हम जैसे गुणों में जीते हैं वैसी ही हमारी इच्छा-वासना और रूचियाँ पैदा हो जाती हैं और इसीलिए माया से तरना कठिन हो जाता है। वरना माया तो...

श्री वशिष्ठ जी महाराज कहते हैं- "हे रामजी ! जो अज्ञानी हैं, मूढ हैं, जो देह को मैं मानते हैं उनके लिए संसार तरना बड़े कठिन महासागर को तरने के समान है लेकिन जिनके अघ नष्ट हो गये हैं उनके लिए संसार-सागर को तरना गोपद को लाँघने के समान सरल है।"

जो विचारवान हैं, जिनका हृदय शुद्ध हुआ है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी बुद्धि सत्त्वप्रधान है, जिनको आत्मारामी सदगुरुओं की छाया मिली है उनके लिए संसार तरना आसान है।

दो प्रकार के लोग होते हैं-

देह को मैं मानकर जीते हैं और देह के इर्दगिर्द को व्यवहार की उपलब्धियाँ करके अपने को भाग्यशाली मानते हैं। उपलब्ध चीजें अगर चली गयीं तो अपने को अभागा मानते हैं। ऐसे अभागों की तो भीड़ है दुनिया में।

देह का व्यवहार भी रहे और भगवान का भजन भी होता रहे – ऐसा चाहने वाले लोग ऊँचे लोकों में जाते हैं।

कभी-कभी, कहीं-कहीं कोई ऐसे ही विरले होते हैं जो देह के व्यवहार को इहलोक और परलोक सबको मायामात्र, मनोमय समझकर, चैतन्य सत्ता-दृष्टा-साक्षी-आत्मा का विलासमात्र समझकर अपने को दृष्टाभाव से भी परे लाकर दृष्टास्वरूप में विलय कर देते हैं। ऐसे महापुरुष तो विरले ही होते हैं।

जब तक जीव का मैं मौजूद रहता है तब तक उसे मान अपमान, हानि लाभ आदि के सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है। क्योंकि जीव जीता है त्रिगुणमयी माया में और यह त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है लेकिन भगवान कहते हैं- जो मेरी शरण हो जाता है वह इस त्रिगुणमयी माया से तर जाता है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

भगवान बोलते हैं- **माम् एव ये प्रपद्यन्ते....** यहाँ भगवान श्रीकृष्ण के **माम्** का तात्पर्य श्रीकृष्ण की आकृति से नहीं वरन् श्रीकृष्णतत्त्व से है और जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को मैं रूप में जान लेता है, वह माया से तर जाता है। अन्यथा.. जो प्रभु के दीदार करते हैं ऐसे नारद जी जैसों को भी माया नहीं छोड़ती।

एक बार नारद जी अत्यंत तन्मयता से कीर्तन कर रहे थे तब भगवान प्रगट हो गये एवं प्रसन्न होकर बोलेः

"नारद ! तुझे जो काम देता हूँ वह तू तुरन्त कर देता है। कुछ माँग ले।"

नारदजीः "प्रभु ! क्या माँगू? अगर आप संतुष्ट हैं तो आप मुझे आपकी माया दिखाने की कृपा करें।"

प्रभुः "मुझे देख, नारद ! मेरी माया को क्या देखेगा?"

नारदजीः "आपको तो मैं देख रहा हूँ, प्रभु !"

प्रभुः "नारद ! तू मुझे नहीं, मेरे शरीर को देख रहा है। तू मुझे देख।"

नारदजीः "आपको फिर कभी देख लूँगा। अभी तो आपकी माया दिखाओ।"

भक्त का हठ देखकर भगवान ने सोचाः 'अभी इसको ठोकर खाना बाकी है।' फिर बोलेः "नारद ! अभी तो मुझे प्यास लगी है। चलो पानी पीकर आयें।

दोनों पहुँचे सरस्वती नदी के तट पर। नारद जी गये नदी में और सोचाः 'भगवान के लिए पानी भरना है तो जरा शुद्ध हो के भरूं।' नारद जी ने मारा गोता.... ज्यों ही गोता मारकर बाहर निकले तो नारद से बन गये नारदी। कपड़े-गहने, हाव-भाव, वाणी-वर्तन, हिल-चाल सब स्त्री जैसा! फिर एक मल्लाह के साथ शादी कर ली। अब तो मल्लाह के लिए भोजन बनाये, उसकी सेवा करे। दिन बीता, रात बीती... सुबह बीती, शाम बीती.... सप्ताह बीता, महीना बीता... साल बीता.. कई साल बीतते-बीतते उसे 12 बच्चे हो गये। घर में चौदह प्राणी हो गये। बड़ी मुश्किल से गुजारा होता था। चिन्ता-चिन्ता में एक दिन मल्लाह चल बसा। नारदी रोने-पीटने लगी। इतने में आ गये भगवान और बोलेः "अरे नारद ! यह क्या? मैंने तो तुझे पानी लाने को कहा था !"

शर्म के मारे नारदी ने पानी में गोता मारा। गोता मार कर नारदजी ज्यों ही बाहर निकले तो देखते हैं कि न बच्चे हैं, न मल्लाह का शव है वरन् सामने भगवान खड़े-खड़े मुस्करा रहे हैं। नारदज ने पानी लाकर दिया और बोलेः

"भगवान ! यह क्या? यह सब क्या था? मुझे ऐसा लगा कि मैं स्त्री बन गया। मुझे 12 बच्चे हो गये... यह सब क्या हो गया था मुझे?"

प्रभुः "इसी का नाम माया है नारद ! तू वही का वही था किन्तु तुझे महसूस हुआ कि तू नारदी बन गया। जो महसूस हुआ वह रहा नहीं लेकिन तू मौजूद है। तू असलियत है। बाकी सब नकली है। यही तो मेरी माया है।

इस माया से तरना बड़ा कठिन है और आसान भी है। अगर अपनी असलियत को जान लिया तो आसान है। अपनी नकलियत को असलियत मान बैठे तो कठिन भी है। हमारा शरीर प्रकृति का, घर प्रकृति का, व्यवहार प्रकृति का, मन-बुद्धि प्रकृति के और प्रकृति जा रही है विनाश की तरफ, परिवर्तन की तरफ। इन सबको देखनेवाले हम अविनाशी हैं। अगर इस अविनाशी तत्त्व को ठीक से जान लिया तो हो गये माया से पार।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

चार प्रकार के भक्त

दुष्कृत्य कार्य करने वाला व्यक्ति, अभागा व्यक्ति भले ही दुनिया की सब सुविधाओं को पा लें, दुनिया के सब हीरे-जवाहरात, कंकर-पत्थर इकट्ठे कर लें फिर भी वह प्रभु को नहीं भज सकते हैं। भगवान कहते हैः

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।

'माया के द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए तथा मनुष्यों में नीच और दूषित कर्म करने वाले लोग मुझे नही भजते हैं।'

(गीताः 7.15)

भगवान शंकर कहते हैं-

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी।।

'हे पार्वती ! सुनो। वे लोग अभागे हैं जो भगवान को छोड़कर विषयों से अनुराग करते हैं।

(श्रीरामचरित अरण्य काण्डः 32,2)

हरि को छोड़कर अपने आत्मदेव को छोड़कर, अपनी आंतरिक शांति को छोड़कर, अपने भीतरी सुख को छोड़कर जो लोग दूसरी जगह सुख लेने को भटकते हैं वे बड़े अभागे हैं। ऐसे लोग फिर कभी कुत्ते के तो कभी गधे का शरीर में, कभी वृक्ष के तो कभी पक्षी के शरीर में जाते हैं। जिनकी बुद्धि मारी गयी है, जो प्रकृति के पंजे में फँसे हैं ऐसे लोग जीवनभर अपने अभाव को ढँकने के लिए मेहनत करते रहते हैं और अतं में मृत्यु के समय खाली ही रह जाते हैं।

जिसने अन्तर्यामी परमात्मा की शांति का आस्वाद नहीं लिया, जिसने अंतर्यामी, परमात्मा को प्यार नहीं किया उस दुष्कृत करने वाले व्यक्ति ने हजारो-हजारों जड़ वस्तुओं को प्यार किया फिर भी वे वस्तुएँ उसकी नहीं हुईं।

दुष्कृत करने वाले व्यक्ति का ज्ञान माया के द्वारा अपहृत हो जाता है, नष्ट हो जाता है इसीलिए वह भगवान का भजन नहीं कर सकता। भगवान को जो मानते तक नहीं वे लोग दुष्कृतिनः होते हैं। अहंकार से आक्रान्त चित्तवाले वे अपने से किसी को भी बड़ा नहीं मानते। मैं..मैं...मैं... करते हुए अहंकार को ही ठोस करते रहते हैं। ऐसे लोग दंभी होते हैं।

श्रीमद् आद्य शंकराचार्य ने कहा हैः 'भीतर अगर भक्तिभाव न हो, योग्यता न हो और बाहर दिखाने का प्रयत्न किया जाये उसे दंभ कहते हैं।'

दंभ से दूसरे दोष भी आ जाते हैं। जैसे, दर्प। धन, पद-प्रतिष्ठा पाकर दर्प होने लगता है। दर्प से कठोरता आती है, भाषा कटु हो जाती है, अभिमान बढ़ जाता है और इन सबका मूल कारण होता है – अज्ञान। अपने स्वरूप को न जानना एवं जगत को सच्चा मानना यही अज्ञान है और ऐसे अज्ञान से आवृत्त पुरुष भगवान के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता।

किन्तु जो सुकृतिनः हैं, सत्कर्म करने वाले हैं वे पहले भले ही धन पाने की कामना से भजन करें, संकट मिटाने के लिए भगवान का भजन करें किन्तु अंत में भगवान की प्राप्ति के लिए भजन करने लग जाते हैं। दुष्कृति को धन मिलता है तो सोचता कि मैंने कमाया, किन्तु सुकृति को धन मिलता है तो सोचता है कि भगवान की कृपा से मिला। फिर सुकृति समय पाकर भगवान को ही समर्पित हो जाता है इसीलिए वह उदार हो जाता है। ऐसे चार प्रकार के सुकृति भक्तों का वर्णन करते हुए भगवान आगे कहते हैं-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।

'हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी – ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं।

उनमें भी नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित हुआ, अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझे तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

ये सभी उदार हैं अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजन के लिए समय लगाने वाले होने से उत्तम हैं परन्तु ज्ञानी तो साक्षात मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह मदगत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

(गीताः 7.16,17,18)

तुलसीदास जी ने भी श्रीरामचरितमानस में इसी बात को अपनी भाषा में कहा हैः

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृति चारिउ अनघ उदारा।।
चहू चतुर कहूँ नाम अधारा।
ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा।।

'जगत में चार प्रकार के (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी) रामभक्त है और चारों ही पुण्यात्मा, पापरहित और उदार हैं। चारों ही चतुर भक्तों को नाम ही आधार है। इनमें ज्ञानी भक्त प्रभु को विशेष रूप से प्रिय हैं।'

(श्रीरामचरित. बालकाण्डः 21.3-4)

जो तन-मन से रोगी है, धन-सत्ता होने पर भी जो मानसिक रूप से अशांत है ऐसा शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक रूप से रोगी अगर अपने रोग, संकट या कोई कष्ट मिटाने के लिए भगवान की शरण लेता है तो उसे आर्त कहते हैं।

जो बुद्धि रूपी धन, सत्तारूपी धन या रुपये-पैसेरूपी धन को अर्जित करने के लिए भगवान की शरण लोता है वह अर्थार्थी भक्त है। जो भगवान के तत्त्व को समझना चाहता है वह जिज्ञासु भक्त है।

जिसको न धन की जरूरत है, न सत्ता की जरूरत है, न भगवद् तत्त्व समझना जरूरी है ऐसा जो आप्तकाम, पूर्णकाम है, अपने आप में संतुष्ट है ऐसा भक्त ज्ञानी भक्त कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी भक्त भगवान को निष्काम भाव से भजता हुआ भगवदाकार वृत्ति, ब्रह्माकार वृत्ति बनाये रखता है। जो अपने स्वरूप में मस्त रहते हैं, जो ज्ञान की खुमारी से नीचे नहीं आते, जिनका

स्वभाव है परमात्मशाँति में ही रहना, ऐसे जो ज्ञानी महापुरुष हैं उन्होंने अपने और ईश्वर के बीच की दूरी को समाप्त कर लिया है।

भगवान कहते हैं कि उपरोक्त चारों ही प्रकार के भक्त मुझे प्रिय हैं। ये चारों ही उदार हैं, सुकृति हैं क्योंकि ये चाहते तो हैं संकट मिटाना, रोग मिटाना, चाहते तो हैं अर्थ यानी धन, लेकिन मेरी शरण द्वारा चाहते हैं। कोई चोरी की शरण लेकर धनवान होना चाहता है, कोई धोखेबाजी की शरण लेकर धनवान होना चाहता है, कोई छल-कपट करके सत्तावान होना चाहता है लेकिन जो सुकृति है वह मेरी शरण लेकर कुछ पाना चाहता है इसीलिए वह सुकृति है।

चार प्रकार के भक्तों में आर्त भक्त वह है जो पीड़ा के समय प्रभु को भजता है। जैसे द्रौपदी चीरहरण के समय बड़े संकट में थी। उसने चारों ओर निहारा किन्तु कोई रक्षक न दिखा। तब उसने संकटहारी श्रीहरि को पुकारा।

गजराज का पैर जब ग्राह ने पकड़ लिया, उसे भी जीवनरक्षा का कोई मार्ग न दिखा तब उसने भी जीवनदाता प्रभु की शरण ली। इस प्रकार दोनों आर्त भक्त कहे जाते हैं।

अर्थार्थी भक्तों में सुग्रीव, ध्रुव आदि आते हैं। उत्तानपाद की दो रानियाँ थीं, सुरुचि एवं सुनीति। सुनीति का पुत्र जब ध्रुव जब पिता की गोद में बैठने गया तो सुरुचि ने फटकारते हुए कहाः

"अगर पिता की गोद में बैठना है तो मेरी कोख से जन्म लेना पड़ेगा।"

ध्रुव को चोट लग गयी। 'मैं पिता की गोद का अधिकारी कैसे बनूँ?' यह सोचता हुआ वह माँ के पास गया एवं माँ से उपाय पूछा। तब माँ ने भगवान की शरण लेने को कहा।

ध्रुव निकल पड़ा तप करने के लिए। नारदजी ने उसे घर लौटाने के काफी प्रयास किये किन्तु ध्रुव सुकृति था। अतः वह अपने निश्चय पर अटल रहा। तप करके पिता की गोद तो क्या राज्य भी पा लिया, अटल पदवी पा ली और अन्त में प्रभु की गोद भी पा ली।

जिज्ञासु भक्त भगवान को चाहता है। 'मैं कौन हूँ... कहाँ से आया हूँ.... जन्म मरण से छुटकारा कैसे मिलता है... ब्रह्म क्या है...सृष्टि कैसे हुई... मौत के बाद जीव कहाँ जाता है.... जन्म – मरण से छुटकारा कैसे मिलता है...जीव क्या है... आत्मा-परमात्मा का ज्ञान कैसे हो...' इस प्रकार के विचार करके जो तत्वज्ञान की ओर चल पड़ता है वह है जिज्ञासु भक्त।

चौथे प्रकार का भक्त है ज्ञानी। वह भगवान को तत्त्व से जानकर निष्काम भाव से भजता है। ये तीनों प्रकार के भक्त-आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु भक्त तो बहुत देखने को मिलेंगे लेकिन चौथे प्रकार का ज्ञानी भक्त कभी-कभी, कहीं कहीं देखने को मिलता है।

ऐसे ज्ञानी के तो भगवान भी भक्त होते हैं और ज्ञानी भगवान का भक्त होता है। जो भगवान का पक्का भक्त होता है वह भगवान को छोड़कर दूसरे की शरण नहीं लेता है।

एक पक्का भक्त ध्यान कर रहा था। उसके ध्यान में इन्द्रदेव आये और बोलेः

"वर माँग ले।"

भक्तः "आप इन्द्रदेव ! मैं आपसे वर क्या माँगूँ? मैं तो वर अपने इष्ट से ही लूँगा। अगर आप मुझे इन्द्रपद भी दे दें तो इन्कार है किन्तु मेरे इष्ट भोलानाथ मुझे कीट भी बना दें तो स्वीकार है।"

यह है अनन्य भक्ति। भगवान के प्रति यदि अनन्य भक्ति है तो फिर दुःख मिलने पर भी दुःख नहीं होगा क्योंकि देनेवाले हाथ सुन्दर हैं। भक्त को यदि दुःख भी मिलते हैं तो सोचता है कि भगवान ने मेरे पाप मिटाने के लिए ही दुःख दिये हैं। जैसे गोपियाँ, भीष्म, सुदामा आदि।

अगर किसी सुकृति भक्त ने भगवान का भजनादि किया और उसे प्रमोशन या संसार की कोई सुख-सुविधा मिल गयी तो उसे भी वह भगवान का प्रसाद ही मानता है। भगवान कहते हैं- **उदाराः सर्व एवैते।** वे सब उदार हैं जो मुझसे जरा-सा पा लेते हैं तो अपने सहित सब कुछ मेरा मान लेते हैं। सुकृति भक्त संसार की वस्तुएँ माँगते-माँगते भी बाद में वास्तव में भगवान का भक्त बन जाता है। आगे भगवान कहते हैं कि ये सब उदार हैं सुकृति हैं, अच्छे हैं किन्तु ज्ञानी तो साक्षात मेरा स्वरूप ही है।

ज्ञानी त्वात्मैव मतम्।

ऐसे ज्ञानी उत्तम गति को पाते हैं। अनुत्तम व्यवहार में होते हुए भी, अनुत्तम शरीर में होते हुए भी परम उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार किये हुए होते हैं।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

तत्त्ववेत्ता की प्राप्ति दुर्लभ है

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

'बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है- इस प्रकार मुझे भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

(गीताः 7.19)

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञानी भक्त बहुत जन्मों के बाद क्यों भजता है? पहले ही से क्यों नहीं भजता? भगवान को तो पहले से ही भजना चाहिए और सब भजते भी हैं।

भगवान को पहले से भजते तो कई हैं किन्तु 'सर्वत्र भगवान हैं' इस प्रकार प्रारंभ में कोई नहीं भज सकता। बहुत जन्मों के पुण्य एकत्रित होते हैं तभी आदमी इस प्रकार का भाव समझने के योग्य होता है। अन्यथा, ऐसी बात सुनने को मिल जाये फिर भी वह ठीक से समझ नहीं पाता।

एक बार देवराज इन्द्र एवं दैत्यराज विरोचन दोनों ब्रह्माजी के पास आत्मोपदेश लेने के लिए गये। पितामह ब्रह्मा ने उनसे कहाः "आँखों से जो दिखता है वह ब्रह्म है।"

उपदेश पाकर विचार करते हुए दोनों वहाँ से निकल पड़े। विरोचन को हुआ कि 'आँखों से जो दिखता है, वह तो अपना शरीर दिखता है अर्थात् शरीर ही ब्रह्म है। अतः खाओ, पियो और मौज करो।' उसके जीवन में साधन-भजन नहीं था, समझ नहीं थी, अतः 'सर्वत्र ब्रह्म है' यह सुनने पर भी ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानकर अहंकार वश वह शरीर को ही ब्रह्म मानकर संतुष्ट हो गया। इन्द्र को हुआ कि सामने वाले की आँखों में तो अपना शरीर दिखता है और शरीर है परिवर्तनशील अतः वह ब्रह्म कैसे हो सकता है?

इन्द्र पुनः गये ब्रह्माजी के पास और पुनः प्रार्थना की। तब ब्रह्मा जी ने कहाः "अगर ऐसे नहीं समझ पाते हो तो इस प्रकार समझो कि आँखों को जो देखता है वह ब्रह्म है।"

इन्द्र विचार करने लगे कि "आँखों को तो मन देखता है।"
उन्होंने ब्रह्मा जी से पुनः प्रार्थना की किः "पितामह अभी भी ठीक से समझ में नहीं आ रहा कि मन ब्रह्म कैसे हो सकता है?"

पितामह बोलेः "मन को भी जो देखता है वह ब्रह्म है।"

इन्द्र फिर गये एकान्त में और विचार करने लगे। विचार करते-करते उन्हें लगा कि मन के संकल्पों-विकल्पों को, मन की चालबाजियों को तो बुद्धि देखती है और बुद्धि भी बदलती है अतः वह ब्रह्म कैसे हो सकती है?

पितामहः "बुद्धि की बदलाहट को जो निरन्तर देखता है वह ब्रह्म है।"

तब इन्द्र एकान्त में जाकर विचार करने लगे कि बुद्धि की बदलाहट को देखने वाला कौन है? इस प्रकार मनन-निदिध्यासन करते-करते इन्द्र गहराई में खो गये एवं सबके सारभूत, सबके वास्तविक स्वरूप और सर्वत्र स्थित ब्रह्म-परमात्मा के ज्ञान को पाने में सफल हो गये।

कहते हैं कि इस अवस्था में पहुँचने में इन्द्र को वर्षों लग गये। श्री कृष्ण ने ठीक ही कहा हैः बहूनां जन्मनामन्ते.... बहुत जन्मों के अंत में... आप लोग ऐसा मत समझ लेना कि पहले आप चिड़िया, तोता, हाथी, घोड़ा आदि थे और अब मानव जन्म मिला है और आत्मज्ञान का सत्संग मिल गया है। नहीं अगर हम सीधे पशु-पक्षी की योनि से मनुष्य शरीर में आते तो आत्मज्ञान की जगह पर जाने की रूचि नहीं होती। पूर्वजन्म की थोड़ी बहुत साधना होने पर, जप-ध्यान आदि होने पर, पुण्याई होने पर ही मनुष्य 'सर्वत्र परमात्मा है...' ऐसा उपदेश सुनने की जगह पर पहुँच पाता है। जैसे पहली, दूसरी कक्षा का विद्यार्थी कॉलेज नहीं जा सकता। ठीक ऐसे ही पूर्वजन्म के सत्कृत्यों से रहित मानव भी आत्मज्ञान पाने की जगह पर नहीं पहुँच सकता और अगर पहुँच भी जाये तो आत्मज्ञान को समझना उसके लिए कठिन होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं- बहूनां जन्मनामन्ते.....

बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान् परमात्मा की प्राप्ति करता है और परमात्मा का अनुभव होते ही जन्म-मरण का चक्र सदा के लिए मिट जाता है। जन्म-मरण, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, स्वर्ग-नरक में आना-जाना ये तभी तक हैं जब तक परमात्मा का ज्ञान, परमात्मा का अनुभव नहीं होता। जब परमात्मा का अनुभव हो जाता है तो ये सभी द्वन्द्व सदा के लिए मिट जाते हैं।

जिनको परमात्मा का अनुभव हो गया है वे तो शोक से तर ही जाते हैं, उनके संपर्क में आने वालों का भी शोक-मोह नष्ट होने लगता है। किन्तु ऐसे परमात्म-प्राप्त महापुरुषों का मिलना बड़ा कठिन है। श्री कृष्ण कहते हैं- स महात्मा सुदुर्लभः। वह महात्मा अति दुर्लभ है। श्री कृष्ण की नजर में जो अत्यन्त दुर्लभ है उनकी दुर्लभता का क्या बयान किया जाये?

भगवान का प्राप्त होना सुलभ है क्योंकि भगवान तो सर्वत्र हैं किन्तु सर्वत्र स्थित भगवान को जानने वाला महात्मा दुर्लभ है। ईश्वर को पाना कठिन नहीं किन्तु संतों का संग मिलना कठिन है, पावन सत्संग मिलना कठिन है।

अर्जुन श्रीकृष्ण के सखा थे, अत्यंत निकट थे, फिर भी सत्संग नहीं मिला था तो वे अत्यंत किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे, विषाद में डूब गये थे। किन्तु जब भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत श्रीमद् भगवद् गीता के रूप में पावन सत्संग मिला तो वे ही अर्जुन कहने लगेः

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

'हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है इसलिए मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

(गीताः 18.73)

यह कैसे संभव हुआ? जब श्री कृष्ण का दिव्य सत्संग मिला तब। सत्संग मिलना बड़ा दुर्लभ होता है, सत्पुरुष का मिलना बड़ा कठिन होता है। अगर वे मिल भी जायें तो उन्हें पहचान पाना अगम्य होता है और अगर पहचान लें तो उनका मिलन अमोघ होता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

कामनापूर्ति हेतु भी भगवान की शरण ही जाओ

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।

'उन उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं अर्थात् पूजते हैं।'

(गीताः 7.20)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः। 'कामनाओं से जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है....' यह मानव तन वास्तव में मिला है परमात्म प्राप्ति के लिए किन्तु कामनाओं के पीछे अंधी दौड़ में ही मनुष्य इतना खप जाता है कि उसे अपने वास्तविक लक्ष्य का पता नहीं चलता !

कामना अर्थात् संयोगजन्य सुख की इच्छा। यह कामना दो प्रकार की होती हैः यहाँ के भोग भोगने के लिए धन-संग्रह की कामना और स्वर्गादि परलोक के भोग भोगने के लिए पुण्य संग्रह की कामना।

इन कामनाओं से सत्-असत्, नित्य-अनित्य, बन्ध-मोक्षादि का विवेक ढँक जाता है एवं व्यक्ति अपने स्वभाव के परवश हो जाता है।

मनुष्य अपने स्वभाव को शुद्ध और निर्दोष बनाने में सर्वथा स्वतंत्र है। किन्तु जब तक मनुष्य के भीतर कामनापूर्ति का उद्देश्य रहता है तब तक वह अपने स्वभाव को नहीं सुधार सकता और तभी तक स्वभाव की प्रबलता और अपने में निर्बलता दिखती है। जिसका उद्देश्य कामना मिटाने का हो जाता है वह अपने स्वभाव को सुधारने में सफल हो जाता है।

लेकिन होता क्या है? कामनाओं के कारण अपनी प्रकृति के परवश होने पर मनुष्य कामनापूर्ति के अनेक उपायों को खोजता है एवं अनेक नियमों को धारण करके अन्य देवताओं की शरण लेता है। भगवान की शरण नहीं लेता।'

स्वामी अखंडानंदजी महाराज कहते हैं- "यह तो ऐसा ही हुआ कि मानो, अपने पतिदेव हैं अपने घर में और स्त्री दूसरे पुरुष के पास अपनी कामना पूरी करने जाती है। यह तो व्यभिचार है, अपराध है। इसी प्रकार हम अपने हृदयस्थ ईश्वर को तो पीठ दे देते हैं एवं अन्य-अन्य देवताओं के पास याचना करते हैं कि हमारा यह काम कर दो, वह काम कर दो और इसके लिए हम तदनुरूप नियमों का, यज्ञादि का पालन भी करते हैं।"

हालाँकि समस्त देवताओं में भी परमात्मा का ही निवास है किन्तु अज्ञानवश हम यह नहीं समझ पाते हैं। काम एवं राग से अपनी कामनापूर्ति के लिए सर्वशक्तिमान परमेश्वर को छोड़कर अन्य की उपासना करते रहते हैं।

आगे के श्लोकों में भगवान ने यही समझाया है कि अन्य देवताओं की उपासना के कारण उन देवताओं से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए इच्छित भोगों को मानव पाता है।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

खण्ड से नहीं, अखण्ड से प्रीति करें.....

श्रीमद् भगवद् गीता के सातवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।
अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद् भक्ता यान्ति मामपि।।

'जो जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ।

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अंत में मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

(गीताः 7.21,22,23)

जो-जो सकाम भक्त, श्रद्धा से जिस-जिस देवता के स्वरूप की पूजा-अर्चना करता है उस-उस भक्त की श्रद्धा में परमात्मा ही मूल कारण है। मनुष्य का स्वभाव है इच्छाओं के पीछे दौड़ना और वे इच्छाएँ जिन-जिनसे पूरी होती हैं उन-उन देवों की, उन व्यक्तियों की, उन-उन भूत-प्रेतों, यक्ष-गन्धर्वों की वह आराधना करता है।'

इच्छा तो रजोगुणी है। माया के द्वारा अपहृत ज्ञान से, ज्ञान का नाश होने से विवेक भी नष्ट हो जाता है और विवेक नष्ट हो जाने के कारण फिर यह पता नहीं चलता कि 'इन इच्छाओं की पूर्ति करने वाले इस जहाँ में कितने ही व्यक्ति आये और चले गये, कितनी ही अल्प-अल्प इच्छाओं की पूर्ति इस जीवन में भी हो रही, फिर भी जीवन में शांति का, सत्य का कोई स्वर नहीं सुनाई दे रहा है।'

जिनकी अल्प मेधा है, अल्प बुद्धि है वे ही लोग उन अल्प-अल्प के, खण्ड-खण्ड के अधिष्ठाताओं की उपासना करते हैं। मानो, मुझे सुगंध की इच्छा है। मैंने अश्विनी कुमारों की

आराधना की। वे मुझ पर संतुष्ट हो गये और उन्होंने मुझे ऐसी प्राण शक्ति दे दी की मैं खूब दूर-दूर की सुगन्ध भी ग्रहण कर सकूँ। लेकिन सुगन्ध से ही मेरे जीवन की परितृप्ति तो नहीं होगी, केवल सुगंध से ही पूर्ण आनन्द नहीं आएगा। फूल में सुगन्ध तो होती है किन्तु सुगन्ध के साथ हम रूप भी देखना चाहते हैं, स्पर्श भी करना चाहते हैं। सुगंध का सुख लेना है तो अश्विनी कुमारों को रिझाना होगा किन्तु रूप और स्पर्श का भी सुख लेना है तो रूप के अधिष्ठाता सूर्य देवता एवं स्पर्श के अधिष्ठाता वायु देवता की उपासना करनी पड़ेगी।

ऐसे एक-एक सुख के अधिष्ठाता देव को रिझाने पर भी मन पूर्ण सुख की परितृप्ति का अनुभव नहीं करेगा क्योंकि मन का स्वभाव है अभाव में जीना। जो हमारे पास नहीं है, मन उसी का चिन्तन करता है और जो है उससे फिर वह आगे भागता है। मन का स्वभाव ही है विषयों की ओर दौड़ना। उन विषयों की प्राप्ति में वह छल-कपट करे, इससे तो बेहतर है कि वह ईश्वरोपासना करे, देवताओं का पूजन करे क्योंकि देवताओं के प्रति जो आस्था होती है उस आस्था के मूल में भी तो परमात्मा ही है। देवताओं की पूजा आराधना के बाद जो सुख मिलेगा वह नश्वर होगा। वह सुख शाश्वत् शान्ति और शाश्वत् आनंद नहीं दे सकेगा। शाश्वत शांति और शाश्वत् सुख तो केवल परमात्म-प्राप्ति में ही है।

भगवान कहते हैं किः 'जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है उस उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ।'

यहाँ प्रश्न उठ सकता है किः 'भगवान उस देवता की तरफ हमारी श्रद्धा को स्थिर क्यों करते हैं? वे हमारी श्रद्धा को अपनी ओर क्यों नहीं लाते?' मजे की बात यह है कि आपकी जहाँ वृत्ति है, आपकी जहाँ श्रद्धा है वहाँ से हटकर उसे कोई अपनी तरफ लायेगा तो आपको खतरा महसूस होगा लेकिन जहाँ आपकी श्रद्धा है उसकी तरफ आपको यदि सहयोग देगा तो उसकी बात पर आपको विश्वास होने लगेगा, स्नेह होने लगेगा और जब स्नेह होने लगेगा तो उसके विषय में आप सोचने लगोगे और उसके विषय में ज्यों सोचा त्यों ही उसकी गरिमा का ख्याल आने लगेगा।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिस बात के लिए इन्कार किया जाता है वहीं मन भागता है। बच्चे को कहा जाए कि 'यह मत कर' तो वह वही करेगा। अखबार में कुछ छपा हो। आप किसी को बोलोः 'इसे मत पढ़ना' तो व्यक्ति उसे ही पहले पढ़ेगा। इस प्रकार इन्कार भी स्वीकृति को आमंत्रण देता है। इसलिए भगवान आपको इन्कार नहीं करते कि 'इस – इस देवता की आराधना मत करो' वरन् वे तो सत्ता देते हैं कि यह सोचकर किः'

आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों।
इतनी भी क्या जल्दी है बहुत पड़े हैं बरसों।।

कभी-न-कभी तो विवेक जग जायेगा कि इन अल्प सुखों में कोई सार नहीं है, इस खण्ड-खण्ड में कोई सार नहीं है। एक-एक को रिझाने में कोई सार नहीं है लेकिन अनेको में जो एक है उसी को रिझा लिया तो सब रीझ जाएँगे।

फकीर इब्राहीम जब फकीर नहीं बने थे, बिल्ख के सम्राट थे तब की बात है। एक बार उन्होंने एक गुलाम खरीदा और उससे पूछाः "तुम क्या खाना चाहते हो?"

गुलामः "जो खिला दोगे, वह खा लूँगा।"

"क्या पहनोगे?"

"जो पहना दोगे, वह पहन लूँगा।"

"करना क्या चाहते हो?"

"जो करने के लिए कहोगे, वह करूँगा।"

इब्राहीम सोचने लगे किः 'यह कैसा गुलाम है?' फिर कड़क कर बोलेः "आखिर तेरा इरादा क्या है?"

गुलामः "मेरे मालिक ! गुलाम और उसका कोई इरादा? गुलाम और उसकी कोई माँग?"

इब्राहीम ने गुलाम को प्रणाम किया और बोलेः

"तूने मुझे आज एक सबक सिखा दिया। बंदे को ऐसा ही रहना चाहिए। वह मालिक का गुलाम है। मालिक ने उसे जन्म दिया है फिर उसकी अपनी माँग कैसे? वह रब जो करवा दे वह ठीक है, जो खिला दे वही ठीक है, जो पहना दे वही ठीक है, जहाँ रखे वहीं ठीक है। मनुष्य को ऐसे ही रहना चाहिए।"

हम राजी हैं उसमें जिसमें तेरी रजा है।
हमारी न आरज़ू है न जुस्तज़ू है।।
न खुशी अच्छी है न मलाल अच्छा है।
यार ! तू जिसमें रख दे वह हाल अच्छा है।।

ऐसा जिनको बोध हो जाता है, इस प्रकार जिनकी वासना निवृत्त हो जाती है उनके साथ प्रीति करने वाले लोग भी खण्ड-खण्ड के सुख को, एक-एक इन्द्रिय के सुख को पाने के लिए एक-एक देवता की गुलामी नहीं करते लेकिन हजारों देवता जिनके इशारे से देने का सामर्थ्य रख रहे हैं वे उसी को अपना साथी, उसी को अपना मालिक मानते हैं।"

एक सूफी फकीर थे। उनके यहाँ एक बार कोई भक्त पहुँचा। रातभर दोनों में हरिचर्चा होती रही, प्रश्नोत्तर होते रहे। सुबह जब भक्त विदा लेने लगा तो बोलाः "बाबा जी ! रात बड़ी सुन्दर बीती। बढ़िया प्रश्नोत्तर हुए, भगव्चर्चा हुई।"

फकीरः "किन्तु मैं खुश नहीं हुआ। तेरे लिए भले बढ़िया रात बीती किन्तु मेरे लिए तो नरक की रात्री थी।"

भक्तः "कैसे बाबाजी?"

फकीरः "तू मेरे से प्रश्न पूछता था यह सोचकर कि बढ़िया-से-बढ़िया प्रश्न पूछूँ। इस प्रकार तू अपनी योग्यता दिखा रहा था और मैं उत्तर देकर तुझे संतुष्ट करना चाह रहा था। तू मुझे रिझा रहा था, मैं तुझे रिझा रहा था। इसमें उस मालिक को रिझाने का काम रह गया। इससे तो अच्छा होता कि तू अकेला बैठता, मैं भी अकेला बैठता और दोनों उसी रब में डूब जाते। हमने प्रश्नोत्तरी में समय गँवा दिया।"

संसार के प्रश्नोत्तर की अपेक्षा परमात्म-तत्त्व के प्रश्नोत्तर अच्छे हैं लेकिन जिन्होंने परमात्म-तत्त्व की महिमा जानी है, जिन्होंने परमात्मा में विश्रान्ति पायी है, जो निःसंकल्प हो गये हैं वे देवताओं की क्या आराधना करें? खण्ड-खण्ड भोग की तो क्या इच्छा करें? वे तो अखण्ड भोग की भी इच्छा नहीं करते। अखण्ड आनंद तो उनका स्वरूप ही हो जाता है।

इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता के सातवें अध्याय के 22वें श्लोक में कहते हैं- "वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता का पूजन करता और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए उन इच्छित भोगों को निःसंदेह प्राप्त करता है।"

आदिदेव तो वही परमेश्वर हैं जो सबको चेतना दे रहा है। मेरा शरीर और आपका शरीर अलग-अलग है, मेरी-आपकी सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हैं लेकिन शरीर को चलाने की सत्ता देने वाला, सत्ताओं को सत्ता देने वाला सबमें चैतन्य एक ही है। उसका जो आदि विधान है उसके अनुसार हम जिस-जिस देवता की आराधना उपासना करते हैं उस-उस देवता में भी वरदान देने का सामर्थ्य तो उसी परमात्मा की सत्ता से ही आता है।'

हालाँकि हम जिन देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं वे हमें भगवान की ओर नहीं लगाते। हमारी बुद्धि कुंठित हो जाती है कि 'हमें फलानी वस्तु फलाने देवता के द्वारा मिली।' इस प्रकार हम उस देवता के पशु बन जाते हैं। जैसे, गडरिया अपने पशु को नहीं छोड़ना चाहता ऐसे ही देवता भी अपने भक्त को नहीं छोड़ना चाहते। इस प्रकार देवताओं के माध्यम से अपनी वासना पूरी करते-करते जन्म-मरण की यात्रा चलती रहती है। वासनापूर्ति करते-करते मनुष्य का ज्ञान

अपहृत हो जाता है और ऐसा अल्प मति वाला मनुष्य अल्प सुखों के लिए देवताओं को छोड़कर फिर मनुष्यों को ही रिझाने में लग जाता है। जरा सा स्पर्श सुख पाने के लिए पत्नी को रिझाने में लग जाता है। जरा सा नल का पानी लेने के लिए पड़ोसी को रिझाने में लग जाता है। दुकानदार ग्राहकों को रिझाने में लग जाता है। अमलदार आफिसर को रिझाने में लग जाता है। इस प्रकार सब अल्प-अल्प सुख पाने के लिए अल्प-अल्प सत्तावालों को रिझाने में अपना जीवन खत्म कर देते हैं। देवता की आराधना करने से वे देवता हमें अल्प सुख की सामग्री तो दे देंगे लेकिन इन्द्रियों से पार जाने की बात नहीं करेंगे। जो इन्द्रियों से परे पहुँच चुके हैं वे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष अथवा तो परमात्मा ही परमात्मा ही इन्द्रियातीत होने का सन्देश दे सकते हैं। बाकी लोग तो इन्द्रियों में जीते हैं इसीलिए इन्द्रियों की कहानी कहेंगे।

मुंबई में बोरीवली के समुद्र की खाड़ीवाले इलाके में एक छोटा सा आश्रम था। वहाँ मेरे पूज्यपाद गुरुदेव श्री लीलाशाह जी बापू ठहरे हुए थे। मैं भी उस समय श्रीचरणों में था। एक दिन सुबह मैं विचार सागर पर सत्संग सुनकर नीचे उतरा तब एक सन्यासी मुझे बहकाने लगा। वह बोलाः

"तुम इतने युवान हो, अच्छे घर के हो, समझदार हो फिर क्यों इस सफेद कपड़े वाले बाबा के पीछे पड़े हो? आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म... यह सब क्या है? मैं तुम्हें ऐसा मंत्र देता हूँ जिससे देवता राजी हो जायेंगे, ऋद्धि-सिद्धियाँ आ जायेंगी, लोगों पर तुम्हारा प्रभाव पड़ने लगेगा..." इस प्रकार वह मुझे अल्प वस्तुओं से प्रभावित करने की कोशिश करने लगा।

मैं नया-नया था। उसकी बातें सुन रहा था। किसी ने जाकर पूज्यपाद सदगुरु देव श्री लीलाशाह जी बापू से कह दिया कि संन्यासी आसाराम से कुछ बातें कर रहा है और वह सुन रहा है।

मेरे सदगुरु देव ने तुरंत एक व्यक्ति को भेजकर मुझे बुलाया और पूछाः "क्या बातें कर रहा था?"

मैंने कहाः "गुरुदेव ! वह बोल रहा था कि यह आत्मा-परमात्मा की बातें क्या करता है? तुम तो कोई ऐसा अनुष्ठान, टोना-टोटका सीख लो, जप तप कर लो कि...."

तब मेरे गुरुदेव ने करुणा करके जोर से डाँट लगायीः "क्यों गया था उसके पास....? " डाँट इतनी जोर से थी कि मेरा रोम रोम काँप उठा। उस समय लगता था कि बाबा जी बहुत नाराज हो गये। मेरी इतनी गलती तो नहीं थी। मैं अपनी ओर से तो नहीं गया था, उसी संन्यासी ने बुलाया था। लेकिन अब पता चलता है कि अगर उस समय कृपा करके उन्होंने मुझे

नहीं रोका होता तो शायद अल्प सुख दिलाने वाले किसी देवी-देवता के चक्कर में पड़कर अभी तक भीख ही माँगता रहता, फिर भी झोली पूरी नहीं भरती।

डाँटने के बाद बड़े प्यार से बुलाकर गुरुदेव मुझसे बोलेः

"बेटा ! इधर आओ। ये जो भेदवादी लोग हैं वे शिकारी जैसे हैं। जैसे बाज आकाश में ऊँचा चढ़ता है और शिकारी उसे गिरा देता है वैसे ही साधकरूपी बाज जब ऊँची उड़ान भरता है और आत्मविचार करके आत्मानंद पाना चाहता है, निर्विषय सुख पाना चाहता है, गुणातीत अवस्था में पहुँचना चाहता है तब ये भेदवादीरूपी शिकारी 'इस देवता को मनाओ... उस देवता को रिझाओ.. यह उपवास करो.... आज मंगलवार करो... आज शुक्रवार करो..' इन अल्प साधनों में भटकाकर उसे नीचे गिरा देते हैं। यदि मनुष्य इन अल्प साधनों में भटक जाये तो अपना परम लक्ष्य कब हासिल करेगा? जैसे कोई एम.ए. की परीक्षा के दिनों में पहली-दूसरी कक्षा का अभ्यासक्रम पढ़ने-पढ़ाने लग जाए तो एम.ए. की पढ़ाई कब करेगा? इसी प्रकार है तत्त्वज्ञान है आखिरी कक्षा। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं हुआ, आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक इन भेदवादियों की बातों में मत आना, उनका संग भी मत करना।"

भेदवादियों की बातें क्या हैं? तत्त्व का अनुभव तो हुआ नहीं है लेकिन गुरु ने थोड़ा संकेत किया है, शास्त्र कुछ कह रहे हैं और कमनसीबी से हमारी इच्छा भी नहीं होती आत्मज्ञान पाने की तो फिर अल्पसुख, अल्पसिद्धि के लिए अल्प चुटकों में ही उलझ जाते हैं और वे हमें रसप्रद भी लगते हैं। लेकिन जो रसप्रद पदार्थ, जो खिलौने मिलते हैं वे भी परमात्मा की सत्ता के विधान के अनुकूल ही मिलते हैं। जब उसी परमात्मा की सत्ता के विधान के अनुकूल ही देवता हमें कुछ देते हैं तो फिर अलग-अलग देवता को क्यों रिझायें? सबको जो देता है उसी के साथ सीधा संबंध क्यों न स्थापित करें?

भगवान कहते हैं- "चर-अचर में मेरी चेतना है। साकार-निराकार सबमें मैं ही हूँ।" इसलिए देवता और दैत्य परमात्मा की सत्ता से भिन्न नहीं। ये सब अमीर-गरीब, देवता-दैत्य, भिन्न-भिन्न दिखते हैं लेकिन सत्ता सबमें एक की ही है। उस एक की सत्ता को जो समझ जाता है वह एक में आराम पा लेता है। व्यवहार अनेक से होते हुए भी सबमें सत्ता एक की निहारता है तो उस एक की सत्ता से उसे अद्वैत तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। जब अद्वैत तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब इन्द्रियों के भोग या मनःकल्पित पदार्थ में कोई सार नहीं दिखता।

घाटवाले बाबा को उनके साधना-काल में एक बार किसी साधु ने एक मंत्र देकर मंत्र के जप की विधि बतला दी और कहाः

"इस मंत्र को जपोगे तो अदभुत चमत्कार होगा लेकिन उसकी सफलता का आधार तुम्हारी एकाग्रता और सच्चाई पर है।"

घाटवाले बाबा ने बाद में बताया थाः "उस समय उस मंत्र का प्रयोग करने के लिए भ्रूमध्य में ध्यान करते हुए मंत्र का जप किया।"

भ्रूमध्य को तीसरा नेत्र या आज्ञाचक्र भी कहते हैं। वह आज्ञा चलाने का केन्द्र है। तुम्हारा संक्लप सिद्ध होने की जगह है वह। अतः जब मनुष्य भ्रूमध्य में ध्यान करता है तो उसकी चेतना सिमटकर भ्रूमध्य में आ जाती है। फिर कुछ चमत्कार घटित होने लगते हैं।

घाटवाले बाबा ने कुछ दिनों तक मन्दिर में जप किया। एकाग्रचित्त तो वे थे ही। एक दिन इस प्रकार वे जप कर रहे थे तब अचानक उस मन्दिर के घंट अपने आप बजने लगे, दरवाजे धड़ाधड़ खुलने और बंद होने लगे। यह अदभुत दृश्य देखकर पुजारी दौड़ता हुआ आया और बोलाः

"यह क्या कर रहे हैं, महाराज ! कैसी माला जप रहे हैं? मेरा मन्दिर तोड़ देंगे क्या? चले जाइये यहाँ से।"'

घाटवाले बाबा उठकर शांति से चल दिये। अब साधारण आदमी की दृष्टि से देखा जाये तो यह एक बड़ा चमत्कार था लेकिन आखिर क्या? शब्द प्रत्याहार सिद्ध हुआ हो तो ऐसा हो सकता हैं। ऐसे ही रूप प्रत्याहार या रस प्रत्याहार सिद्ध होता है। एक-एक इन्द्रिय अंतर्मुख होती है तो उसके जगत की सिद्धियाँ आती हैं लेकिन एक-दो, पाँच या दस सिद्धियाँ मिलने पर भी जीवन में पूरी शांति नहीं मिलती।

फिल्म देखने की इच्छा हुई और फिल्म देख ली तो क्या आप सुखी हो गये? फिल्म देखते-देखते ठंडा पीने की, मूँगफली खाने की इच्छा हुई। मूँगफली भी मिल गयी, कोकाकोला भी मिल गया तो क्या आपकी इच्छा पूरी हो गयी? नहीं थकान हुई तो बिस्तर की इच्छा हुई, सुबह हुई तो दुकान जाने की इच्छा हुई..... इस प्रकार इन इच्छाओं का अंत तो नहीं होता लेकिन अल्प सुखों में जीवन का ही अंत हो जाता है।

भगवान आगे कहते हैं- 'उन अल्पबुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा उन देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे भी भजें अंत में वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

देवता मुक्ति नहीं दे सकते। देवता साक्षात्कार नहीं करवा सकते। देवता भगवान की तरफ नहीं लगा सकते। देवता अपनी तरफ लगायेंगे और आप देवता के लोक तक जा सकते हैं। जैसे

कोई सेठ के पास गया और वहीं रहने लगा तो साधारण नौकरी के अपेक्षा तो यह ठीक है लेकिन वहाँ भी उसे पूर्ण शांति नहीं रहेगी। वह दबा-दबा, सिकुड़ा-सिकुड़ा ही रहेगा। सेठ को, मिनिस्टर को स्वयं को शान्ति नहीं तो भला उसके नौकर को शांति कैसे मिल सकती है?

इन श्लोकों का भावार्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य जिधर मुड़ना चाहे उधर मुड़ सकता है। वह अपनी बुद्धि का जितना विकास करना चाहे कर सकता है। लेकिन हाँ, अगर बचकानी बुद्धि है, अल्प मति है तो वह अल्प सुखों में ही उलझकर रूक जाता है। जैसे, बालक 8-10 बिस्किट के लिए सोने की अशर्फी छोड़ देगा किन्तु यदि बालक जब बड़ा होकर बुद्धिमान बन जाता है तब 8-10 तो क्या पूरा बिस्किट या चॉकलेट का डिब्बा देकर भी आप उससे अशर्फी नहीं छुड़वा सकते। ऐसे ही जिसकी बुद्धि का विकास हुआ है वह अल्प सुखों को, अल्प सुखरूपी बिस्किट या चॉकलेट को छोड़ देगा, भले ही उसे अभी भोग-सुख नहीं मिल रहा है लेकिन अंत में जो मिलेगा वह कभी छूटेगा नहीं। ऐसी जिसकी समझ है वह संसार के थोड़े दुःखों को, निंदा-स्तुति को, कठिनाइयों आदि को सह लेगा। ऐसी चीज के लिए सहेगा कि जिसे पाने के बाद कुछ पाना शेष न रहे और जहाँ पहुँचने के बाद फिर पतन की संभावना न रहे। ऐसे आत्मदेव को वह जान लेता है।

जिसकी अल्प मति है वह अल्प भोगों में उलझ जाता है। जिसकी श्रेष्ठ मति है वह श्रेष्ठ, अति श्रेष्ठ परमात्म-तत्त्व को जानने की कोशिश करता है। परमात्मा को जानने के लिए वास्तव में इतनी मेहनत की जरूरत नहीं है, कठिनाई नहीं है लेकिन उसके लिए तड़प नहीं है और तड़प इसलिए नहीं है कि अल्प मति के कारण अल्प-अल्पभोगों में, अल्प-अल्प सुखों में, अल्प-अल्प बातों में, खण्ड-खण्ड में हम इतने बिखर जाते हैं कि अखंड के विषय में सोचने के लिए हमारे पास समय ही नहीं रह जाता, अखण्ड को पाने के लिए हमारा संकल्प ही नहीं उठता।

भगवान तो केवल सत्तामात्र हैं। जिधर आपकी वृत्ति जाती है उधर के लिए सत्ता देते हैं।

यहाँ पुनः प्रश्न उठ सकता है कि 'हम गलत जगह जायें और भगवान सत्ता न दें तो कितना अच्छा होता ! हमारे सत्कृत्यों के लिए तो सत्ता दें किन्तु हम बुरा करें तो सत्ता न दें। भगवान ऐसा क्यों नहीं करते?'

भगवान ऐसा भी करते हैं। आप बढ़िया सोचते हैं तो सत्ता मिलती है, उत्साह मिलता है और आप बुरा सोचते हैं तो सत्ता कम कर देते हैं किन्तु वे इतने कृपण भी नहीं कि आप थोड़ी-सी गलती करें और पावर सप्लाय डिसकनेक्ट कर दें। वे आपको सत्ता तो देते हैं किन्तु जब आप गलती करते हैं तो आपकी धड़कने भी बढ़ा देते हैं और आपकी बुराइयों पर भी दरगुजार कर देते

हैं तो उन परमात्मा को छोड़कर एक-एक देवी देवता को, एक-एक राजा को, एक-एक नेता को, एक-एक व्यक्ति को आप कब तक रिझाते रहेंगे? कबीर जी ने कहा हैः

कबीर यह जग आयके बहुत से कीन्हे मीत।
जिन दिल बाँधा एक से वे सोय निश्चिन्त।।
इक्के ते सब होत है सब ते एक न होई।

उस एक से सब हो सकता है लेकिन सब मिलकर भी उस एक को नहीं बना सकते।

एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।

एक को साध लेने से, एक आत्मा में आराम पा लेने से मनुष्य की अन्य सब इन्द्रियों में, मन में बुद्धि में सब में आराम आ जाता है लेकिन एक-एक इन्द्रिय के भोग को पाकर आदमी को तृप्ति नहीं होती वरन् अतृप्ति की आग और भड़कती है। एक-एक सुख के साधन को एकत्रित करने से जीव खंडित हो जाता है, बिखर जाता है लेकिन अनेक में जो एक है उस परमात्मा का रस अगर मिल जाये तो जीवन जीने में तो मजा आता ही है, मरने में भी मजा आ जाता है।

किन्तु उस एक परमात्मा को पाना कठिन क्यों लगता है? ईश्वर प्राप्ति कठिन क्यों लगती है?

ईश्वर प्राप्ति में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि 'हम ईश्वर को पाने के अधिकारी नहीं हैं' यह भ्रम घुस जाता है। दूसरी बात यह है कि 'हम मरेंगे बाद में वह मिलेगा' – यह भ्रांति घुस जाती है। तीसरी बात यह है कि हम अल्प-अल्प सुखों में समय पूरा कर देते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय सुख के लिए हम जितने समय का बलिदान देते हैं उसका आधा हिस्सा भी सब विषयों को प्रकाशित करने वाले परमात्मा के लिए नहीं देते इसीलिए परमात्म-प्राप्ति करना कठिन लगता है, वरना कठिन नहीं है।

कोटिकर्ण नामक एक प्रसिद्ध संत थे। उनका उपदेश सुनने के लिए कात्यायनी नाम की एक वेश्या अपनी दासी के साथ पहुँची। कोटिकर्ण परमात्मा में डुबकी मारकर बोलते थे। अतः उनका उपदेश सुनकर वेश्या के चित्त को शांति मिलती थी। कोटिकर्ण जहाँ प्रवचन कर रहे थे, वहाँ एक दीया जल रहा था। कात्यायनी के मन में हुआः "मैं और तो कोई सेवा नहीं कर सकती लेकिन घर में तेल पड़ा हुआ है वही सेवा में लगा दूँ।" यह सोचकर वह दासी से बोलीः

"जा, तेल उठाकर ले आ और इस दीये में डाल दे। इससे बाहर के वातावरण में ज्योत जलेगी तो शायद कभी-न-कभी हमारे भीतर की ज्योति जल उठे।"

उधर कात्यायनी के घर पर डाकुओं ने सेंध लगायी थी और उनका सरदार देख रहा था कि कोई आता तो नहीं है? दासी जैसे ही घर पहुँची तो उसने देखा कि 'सेंध लगायी जा रही है। डाकू घर पर खड़े हैं। अब मैं भीतर कैसे जाऊँ?' अतः वह भागी-भागी कात्यायनी के पास गयी और बोलीः

"उठिये, घर चलिए। अपने घर में डाकू घुस गये हैं और सारा माल-सामान चुराये ले जा रहे हैं।"

तब कात्यायनी बोलीः "जिस सामान को छोड़कर एक दिन मरना है उस माल-सामान को सँभालने के लिए मैं सत्संग को छोड़कर चलूँ? जिस माल-सामान को सँभालना जरूरी है उस परमात्म खजाने को, उस परमात्म प्रेम को अभी सँभाले जा रही हूँ और तू मुझे सेंध की बात बता रही है? ले जाने दे जिसे ले जाना हो। कहाँ तक ले जायेंगे? उसे सदा कौन रख पाया है? कौन साथ में ले गया है? मैं भी साथ न ले जाऊँगी, वे चोर डाकू भी साथ न ले जा सकेंगे। जिसे साथ में ले जाना है वह तो अभी हम साथ में लिए जा रहे हैं। कोटिकर्ण महापुरुष के अनुभवों को हम अपने अनुभव बनाये जा रहे हैं।"

दासी जब सेंध देखकर लौट रही थी तो डाकूओं का सरदार भी उसके पीछे लग गया था और उसी के पीछे जाकर चुपके से बैठ गया था। अतः कात्यायनी ने दासी को जो उपदेश दिया उसे सुनकर सरदार का मन बदल गया।

सत्संग पूरा होते ही उसने कात्यायनी के पैर पकड़ लिए और बोलाः "देवि ! जो सँभालना है उसे आप सँभाल रही हैं और जिसे छोड़कर जाना है उसके लिए हम डाके डाल रहे हैं। मेरे साथी मेरी आज्ञा के बिना तो जगह छोड़ेंगे नहीं। अतः आप पधारकर उन्हें भी दर्शन दीजिए क्योंकि आपके हृदय में परमात्मा का वह विवेक जगा है, आत्मज्ञान का वह दीपक जला है जिसके प्रकाश से मेरे साथियों का जीवन भी प्रकाशित हो सकता है।"

कोटिकर्ण का सत्संग पूरा होते ही डाकू उस कात्यायनी को सादर अपने साथ ले गया और अपने सब साथियों को पूरी बात बताकर, कात्यायनी का उपदेश सुनाकर उनका भी जीवन परिवर्तित कर दिया। वे सबके-सब भिक्षु बन गये।

किसी समय भी वह परमात्मा चित्त में प्रकाश का चिराग, सत्य का चिराग जलाकर मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर ले जा सकता है। शर्त इतनी ही है कि मनुष्य के हृदय में जागने की थोड़ी-बहुत लालसा हो। अपने कृत्यों के लिए कभी न कभी उस डाकू ने प्रायश्चित किया होगा। उसकी भीतर की उपरामता को उस भीतरवाले ने सुन लिया होगा और संयोग बना दिये। इसीलिए वह डाकू अपने अल्प सुखों की लालसा को त्यागकर शाश्वत सुख को पाने में लग गया।

तुम्हारे चित्त में भी कभी विवेक आये किः "आखिर यह सब कब तक? सब मिल गया फिर क्या? प्रतिष्ठा मिल गयी फिर क्या? राज्य मिल गया फिर क्या? देवताओं ने प्रसन्न होकर भोग दे दिये फिर क्या? अश्विनीकुमारों ने प्रसन्न होकर दिव्य गंध का आशीर्वाद दे दिया फिर क्या? गंध से भी तो तृप्ति नहीं होती। शब्द, स्पर्श रूप, रस से भी तो पूर्ण तृप्ति नहीं होती। इन भोगों से आदमी थक जाता है, ऊब जाता है और थकान मिटाने के रात्रि में जाने अनजाने गहरी नींद में चला जाता है। दूसरे दिन पुनः थकाने वाले भोगों की ओर दौड़ता है... इस प्रकार करते करते जीवन पूरा हो जाता है। किन्तु 'ऐसा भी आखिर कब तक करेंगे?' इस प्रकार का विवेक-वैराग्य चित्त में स्फुरे, अपने कृत्यों के प्रति सजगता आ जाये तो हो सकता है कि किसी वेश्या के उपदेश से भी हमारा जीवन सत्य के रास्ते चल पड़े।

यो यो यां यां तनु भक्तः श्रदयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।

'जो जो जिसका भक्त है, श्रद्धा से जिसकी आराधना करता है उसकी श्रद्धा में अचलता मैं देता हूँ।'

जब अल्प भोगों की प्राप्ति के लिए लोग अल्प सत्ता वाले व्यक्तियों की, देवों की, गंधर्वों की, भूत और भैरव की आराधना करते हैं तो उस आराधना करने में भी परमात्मा सहायता करते हैं तो यदि आप उस परमात्मा की आराधना के लिए चित्त में थोड़ा सा विवेक ले आओ तो फिर कमियाँ नहीं देखेगा वरन् वह अपनी उदारता एवं योग्यता की ओर देखकर आपको जल्दी से अपने गले से लगा लेगा।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

अव्यक्त तत्त्व का अनुसंधान करो

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।

'बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम, अविनाशी, परम भाव को न जानते हुए, मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानंद परमात्मा को मनुष्य की भाँति जानकर व्यक्ति के भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं।"

(गीताः 7.24)

जो बुद्धिमान हैं, मेधावी हैं वे भगवान को साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्तरूप में मानते हैं। जो बुद्धिमान नहीं हैं वे भगवान को साकार रूप में मानते हैं और निराकार तत्त्व के तरफ उनकी गति नहीं होती। जो मूर्ख हैं, बुद्धु हैं वे न भगवान के साकार रूप को मानते हैं न निराकार रूप को मानते हैं, वरन् अपनी मति एवं कल्पना में जो बात आती है उसी को मानते हैं

चार प्रकार की कृपा होती हैः
ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा, गुरुकृपा और आत्मकृपा।

ईश्वरकृपाः ईश्वर में प्रीति हो जाये, ईश्वर के वचनों को समझने की रूचि हो जाये, ईश्वर की ओर हमारा चित्त झुक जाये, ईश्वर को जानने की जिज्ञासा हो जाये यह ईश्वर की कृपा है।

शास्त्रकृपाः शास्त्र का तत्त्व समझ में आ जाये, शास्त्र का लक्ष्यार्थ समझ में आने लग जाये यह शास्त्रकृपा है।

गुरुकृपाः गुरु हमें अपना समझकर, शिष्य, साधक या भक्त समझकर अपने अनुभव को व्यक्त करने लग जायें यह गुरुकृपा है।

आत्मकृपाः हम उस आत्मा परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त हो जायें, अपने देह, मन, इन्द्रियों से परे, इन सबको सत्ता देने वाले उस अव्यक्त स्वरूप को पहचानने की क्षमता हममें आ जायें यह आत्मकृपा है।

आत्मज्ञान हो लेकिन ज्ञान होने का अभिमान न हो तो समझ लेना की आत्मकृपा है। अपने को ज्ञान हो जाये फिर दूसरे अज्ञानी, मूढ दिखें और अपने को श्रेष्ठ मानने का भाव आये तो यह ज्ञान नहीं, ज्ञान का भ्रम होता है क्योंकि ज्ञान से सर्वव्यापक वस्तु का बोध होता है।

उसमें अपने को पृथक करके दूसरे को हीन देखने की दृष्टि रह ही नहीं सकती। फिर तो भावसहित सब अपना ही स्वरूप दिखता है।

गर्मी-सर्दी देह को लगती है, मान-अपमान, हर्ष-शोक मन में होता है तथा राग-द्वेष मति के धर्म होते हैं यह समझ में आ जाये तो मति के साथ, मन के साथ, इन्द्रियों के साथ हमारा जो तादात्म्य जुड़ा है वह तादात्म्य दूर हो जाता है। शरीर चाहे कितना भी सुडौल हो, मजबूत हो, मन चाहे कितना भी शुद्ध और पवित्र हो, बुद्धि एकाग्र हो लेकिन जब तक अपने स्वरूप को नहीं जाना तब तक न जाने कब शरीर धोखा दे दे? कब मन धोखा दे दे? कब बुद्धि धोखा दे दे? कोई पता नहीं। क्योंकि इन सबकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई है और प्रकृति परिवर्तनशील है।

संसार की चीजें बदलती हैं। शरीर बदलता है। अन्तःकरण बदलता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से जो कुछ देखने में आता है वह सब व्यक्त है। भूख-प्यास भी तो मन से देखने में आती है। सर्दी-गर्मी का पता त्वचा से चलता है किन्तु उसमें वृत्ति का संयोग होता है अतः वह भी तो व्यक्त ही है। इसीलिए भगवान कहते हैं किः 'जो मूढ लोग हैं वे मेरे अव्यक्त स्वरूप को नहीं जानते और मुझे जन्मने-मरने वाला मानते हैं। बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम, अविनाशी, परम भाव को न जानते हुए, मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जानकर व्यक्तिभाव को प्राप्त होते हैं।

....और मजे की बात है कि जो आदमी जहाँ है और जैसा है, वहीं से और वैसा ही वह दूसरे को देखता है।

बुद्धिहीन से तात्पर्य अँगूठाछाप से नहीं है वरन् जिसको पाने के लिए मनुष्य जन्म मिला है, जिस तत्त्व को समझने के लिए बुद्धि मिली है उस तत्त्व में बुद्धि के न लगाकर हीन पदार्थों में उसे खर्च कर दिया, वह बुद्धिहीन है।

भगवान ने क्रियाशक्ति दी है तो क्रियाशक्ति से क्रिया को बढ़ाकर अपने को जंजाल में न डालें लेकिन क्रियाशक्ति को सत्कर्म में लगाकर अनंत जन्मों के कर्मों को काटने का प्रयत्न करें। जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है ऐसे ही कर्म से कर्म काटे जायें।

ईश्वर ने बुद्धिशक्ति दी है तो बुद्धि से हम जगत के पदार्थों के साथ बँधे नहीं लेकिन जहाँ से बुद्धि को सत्ता मिलती है उस अव्यक्त स्वरूप में बुद्धि को लगायें ताकि बुद्धि बुद्धि न बचे बल्कि ऋतंभरा प्रज्ञा हो जाये।

बुद्धि को ऋतंभरा प्रज्ञा बनाने के दो तरीके हैं-

योगमार्ग और ज्ञानमार्ग।

योगमार्ग में धारणा-ध्यान करके, चित्त की वृत्ति का निरोध करके अपने स्वरूप का अनुसंधान किया जाये। बारंबार निरोधाकार वृत्ति बन जाये तो इससे भी बुद्धि ऋतंभरा प्रज्ञा होने लगती है।

ज्ञानमार्ग के अनुसार दूसरा तरीका यह है कि बारंबार उस सच्चिदानंदघन, अज, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, साक्षी, द्रष्टा, असंग, निर्विकार, चैतन्यस्वरूप का ध्यान किया जाये और जगत का व्यवहार करते हुए, बातचीत करते हुए फिर जगत का बाध कर दिया जाये.... यह 'श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण' की प्रक्रिया है। स्वामी रामतीर्थ कहते थेः "कोई 'श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण बार-बार पढ़े और आत्मज्ञान न हो तो राम बादशाह सिर कटायेगा।"

'श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण' में लीलावती, चुडाला, मंकी ऋषि आदि की कथाएँ आयेंगी और बाद में वशिष्ठ जी महाराज कहेंगे किः "हे रामजी ! वास्तव में बना कुछ नहीं।यह चित्त का फुरना मात्र है।" यही बात शंकराचार्य जी ने कही हैः

नास्ति अविद्या मनसोऽतिरक्ता
मनैवऽविद्या भवबंध हेतु।
तस्मिन्विलीने सकलं विलीनं
तस्मिन्जिगीर्णे सकलं जिगीर्णम्।।

यह अविद्या मन से अलग नहीं है। माया... माया.... माया... माया कोई लाल, पीली, हरी या सफेद साड़ी पहनी हुई महिला नहीं है। माया का मतलब हैः या मा सा माया। जो है नहीं फिर भी दिखे उसका नाम है माया। यह जो कुछ भी दिखता है वह नहीं है। जो नहीं है वह दिख रहा है और जो है वह दिखता नहीं है।

जो है वह दिखता क्यों नहीं? क्योंकि वह अव्यक्त है और हम लोग जीते हैं व्यक्त में। हम लोग व्यक्त होने वाले को मैं मानते हैं तो व्यक्त सच्चा लगता है लेकिन जिसके आधार पर है, उसका पता नहीं।

अखा भगत ने कहा हैः "पानी फीका है और गन्ने का रस मीठा है फिर भी गन्ने के रस से प्यास नहीं बुझती। वास्तव में देखा जाए तो गन्ना भी सार रूप से पानी की ही कृपा है। पानी ही न हो तो गन्ना रस कहाँ से बनायेगा।?"

इसी प्रकार साकार मीठा-मीठा लगता है, रूप दिखता है तो आकर्षित होते हैं, सुगंध आती है तो आकर्षित होते हैं, मधुर शब्द सुनाई पड़े तो आकर्षित होते हैं लेकिन ये विषय और विषयी तो सोपाधिक हैं। अंतःकरण-उपहित चैतन्य में पड़ा हुआ निराकार का प्रतिबिम्ब, चिदाभास इन्द्रियों के साथ तादात्म्य करके विषयों में सुखाभास कराता है। इसलिए साकार में रस आता है। वास्तव में यह रस भी निराकार की ही कृपा है।

गन्ने में मिठास है, पानी में उतनी मिठास नहीं लेकिन गन्ने को भी मिठास उत्पन्न करने की सत्ता तो पानी ने ही दी है। गन्ने का रस कितना भी पियो, फिर भी प्यास बुझती नहीं। ऐसे ही इहलोक अथवा परलोक के साकार भोग से जीवन में परितृप्ति नहीं होती। साकार ईश्वर के दर्शन हो जायें, फिर भी जीवन में परितृप्ति नहीं होगी। अगर साकार का दर्शन ही सर्वोपरि होता या साकार ही पूर्ण रूप से सत्य होता तो श्रीकृष्ण के दर्शन से सत्य का साक्षात्कार हो जाना चाहिए। भगवान बुद्ध, महावीर, जीसस आदि के दर्शन से पूर्ण साक्षात्कार हो जाना चाहिए तथा दर्शन पाये हुए व्यक्ति को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है।

अतः मानना पड़ेगा कि साकार के दर्शन के बाद भी साकार जिसकी सत्ता से खड़ा है उस निराकार तत्त्व का बोध नहीं होता तब तक वासना नहीं मिटती और जब तक वासना नहीं मिटती तब तक बोध नहीं होता। वासना नहीं मिटती तब तक आत्मज्ञान का विलक्षण आनंद नहीं आता। जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक वासना नहीं जाती। फिर क्या करें? पहले ज्ञान प्राप्त करें कि पहले वासना मिटायें? अगर एक भी वासना बँधी तो फिर वह अनंत वासनाओं को जन्म दे देती है।

उत्तर काशी में एक महात्मा थे। अपनी कुटिया के आगे उन्होंने रामदाने (वहाँ की एक प्रकार की धान) बो दिये। थोड़े दिन में तो रामदाने लहलहाने लगे। महात्मा ने सोचा कि भिक्षा माँगने जाना पड़ता है। थोड़े ज्यादा रामदाने बो दें तो भिक्षा माँगने नहीं जाना पड़ेगा।

यह सोचकर दूसरी बार उन्होंने थोड़े ज्यादा रामदाने बो दिये। फिर उन्हें लगा कि यह तो केवल मेरे लिए ही पर्याप्त हुआ है। अगर कोई अतिथि, साधु-संत आ जायें तो उन्हें भी झोली भरकर देना चाहिए। फिर उन्होंने और ज्यादा रामदाने बो दिये। दूसरे साधु-संतों को पता चला कि उनके यहाँ घर की खेती है अतः वे आते, मिलते और ये महात्मा उन्हें थोड़ा धान दे देते। ऐसा करते-करते दिन बीतने लगे।

एक दिन वे महात्मा ध्यान से उठे और रामदाने के सारे पौधे उखाड़-उखाड़कर गंगा जी में डालने लगे।

ताजपुरवाले नारायण स्वामी ने उनसे पूछाः

"बाबा जी ! यह क्या करते हो?"

महात्माः "जरा सी वासना उठी थी किन्तु अब वह इतनी बढ़ गयी कि मुझे किसान बना दिया। कहाँ तो अव्यक्त तत्त्व का दर्शन करने के लिए मनुष्य जन्म मिला है और कहाँ फँस गया खेती करने में?"

रज्जब तूने गजब किया माथे बाँधा मौर।
आया था हरि भजन को चला नरक की ओर?

'इतना हो जाए तो शांति.... इतना हो जाये तो शांति....

अखा भगत ने कहा हैः

अखो कहो अंधारो कूवो।
झगड़ो मटाड़ी कोई न मूंओ।।

अखा भगत कहते हैं कर्म और फल... वासना और तृप्ति... यह अंधकारमय कुएँ की तरह है। आज तक कोई इस झगड़े को निपटाकर नहीं गया।

जब तक अव्यक्त तत्त्व का बोध नहीं हो जाता तब तक साधक को सँभल-सँभलकर कदम रखना चाहिए। अव्यक्त तत्त्व का बोध एक बार हो जाये फिर एक क्या हजार खेत, हजार राज्य सँभाले तो भी उसके लिए खिलौने के समान हो जायेगा लेकिन अव्यक्त तत्त्व का बोध जब तक नहीं होता तब तक सँभल-सँभलकर कदम रखना जरूरी है। नहीं तो, यह माया ऐसी है कि एक के पीछे एक कार्य पूरा करते-करते जीवन पूरा कर देगी और अंत में फिर उन्हीं विषयों को सँभालने की चिंता-चिंता में जीव बेचारा चला जायेगा।

जो बुद्धिहीन हैं वे तो भगवान के अव्यक्त और अजन्मा स्वरूप को नहीं जानते एवं उन्हें साढ़े तीन हाथ का मान कर उनकी निंदा करते हैं और देवताओं की पूजा करते हैं। लेकिन जो बुद्धिमान योगी हैं वे भगवान के साकार स्वरूप को निहारते हुए भी भगवान के निराकार तत्त्व को जान लेते हैं और निराकार में प्रतिष्ठित होते हुए भी साकार की तरफ प्रेमभरी दृष्टि से निहारते हैं। उनको साकार-निराकार दोनों का बोध होता है।

कुछ भक्त ऐसे होते हैं जिनकी निष्ठा निराकार में होती है। कुछ भक्त ऐसे होते हैं जिनकी निष्ठा साकार में होती है। साकार में जिनकी निष्ठा होती है वे निराकार का खंडना करते हैं। जिनकी निष्ठा निराकार में होती है वे साकार का खंडन करते हैं लेकिन वास्तविक तत्त्व में,

अव्यक्त तत्त्व में जिनकी निष्ठा होती है वे समझते हैं कि साकार भाव को देखनेवाला है और इस देखनेवाले का भी जो अधिष्ठान है, उसी से सब हो रहा है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।

'अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय, मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता है अर्थात् मुझको जन्मने मरने वाला समझता है।'

(गीताः 7.25)

भगवान कहते हैं कि मैं अपनी योगमाया से ठीक से ढँक गया हूँ इसलिए मूढ लोग मुझे नहीं जानते कि मैं अजन्मा हूँ। वे स्वयं जन्मते-मरते हैं अतः मुझे भी जन्मने-मरनेवाला मानते हैं। वे मुझे वसुदेव के घर पैदा हुआ मानते हैं, रथ चलाने वाला मानते हैं, अर्जुन का साथी मानते हैं परन्तु मैं तो प्राणिमात्र का साथी हूँ। हूँ तो सबका साथी हूँ, नहीं हूँ तो किसी का भी नहीं।

जो अव्यक्त तत्त्व है उसे किसी के प्रति राग नहीं होता और किसी से द्वेष भी नहीं होता। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि फिर भगवान ने ऐसा क्यों कहा कि 'जो मेरा भजन करते हैं उनको मैं संसार से तार लेता हूँ और जो मुझसे विमुख तथा संसार-परायण हैं वे कष्ट पाते हैं?

यह बात ठीक है जो भजन करते हैं वे सुखी होते हैं और जो दूसरों को कष्ट देकर भी भोग भोगना चाहते हैं वे दुःखी होते हैं। किन्तु इसका कारण उनके प्रति भगवान का राग-द्वेष नहीं है। जो लोग भगवान का भजन करते हैं उनकी वृत्ति भजन करने से भगवदाकार होती है और वही भगवदाकार वृत्ति उन्हें लाभ देती है। भगवान को न मानने से वृत्ति जगदाकार होती है और वही जगदाकार वृत्ति उन्हें आसुरी भाव में ढकेलती है।

हम ईश्वर का चिन्तन करते हैं तो कोई देवी-देवता आकर हमें स्वर्ग में नहीं ले जाते हैं। हम पाप का चिन्तन करते हैं तो कोई दैत्य आकर हमें नर्क में नहीं ले जाता। पाप के चिंतन से एवं पापमयी प्रवृत्ति से हमारी वृत्तियाँ रजस् मिश्रित तमस प्रधान बन जाती हैं। फिर उसी प्रकार की रूचि एवं प्रवृत्ति में लिप्त होकर हम अधोगति में जाते हैं। हमारी मति भी वैसी हो जाती है। अगर हम सात्त्विक चिंतन करते हैं और सात्त्विक से भी परे परब्रह्म परमात्मा का चिंतन करते हैं तो हमारी वृत्ति, बुद्धिवृत्ति भी ऐसी हो जाती है जो हमें सुखस्वरूप परमात्मा की तरफ ले जाती है।

अब मनुष्य अपनी वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करके उन्नति की ओर, मुक्ति की ओर ले जाये या अधोगामी करके अवनति की ओर, बंधन की ओर ले जाये यह उसके हाथ की बात है।

मुक्ति की इच्छामात्र से मनुष्य में सदगुण आने लगते हैं। त्याग, क्षमा, वैराग्य, सहनशीलता, परोपकार, सच्चाई, सेवा दान आदि सब सदगुण केवल मुक्ति की इच्छामात्र से ही पनपने लगते हैं। देह को मैं मानने मात्र से शोषण, ईर्ष्या, राग-द्वेष, भय, हिंसा आदि दुर्गुण पनपने लगते हैं।

तमोगुणी का स्वभाव हैः **'यह मेरे बाप का और तुम्हारे में मेरा भाग।'**
रजोगुणी का स्वभाव हैः **'तुम्हारा वह तुम्हारा.... मेरा वह मेरा..** जियो और जीने दो।'
सत्त्वगुणी का स्वभाव हैः **'तुम्हारा भले तुम्हारा रहे, मेरा भी तुम्हारा हो जाये।'**

जब गुणातीत मस्ती आयेगी तब लगेगा कि 'तुम्हारा और मेरा' यह सब मन-बुद्धि का खेल है। 'मेरा-तेरा' करके कितने ही चले गये और हम भी चले जायेंगे।

श्री वशिष्ठजी महाराज कहते हैं- 'तुम्हारा-हमारा सब फुरना मात्र है। हे रामजी ! वास्तव में बना कुछ नहीं है। यह सब प्रपंच सत्य दिखता है लेकिन है केवत चित्त का विस्तार मात्र। सब संकल्पों का खिलवाड़ मात्र है।'

जिन्होंने एक बार भी अव्यक्त का रस पा लिया वे व्यक्त वस्तुओं में उलझते नहीं हैं और वे व्यक्त वस्तुओं में उलझते नहीं हैं तो समय पाकर व्यक्त वस्तुएं भी उनकी दासी हो जाती हैं।

आप जितने-जितने अव्यक्त तत्त्व में स्थित होंगे। उतनी-उतनी प्रकृति आपके अनुकूल होने लगेगी। आप अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर प्रकृति के पदार्थों को पकड़ेंगे तो कुछ तो पकड़ भी लेंगे लेकिन पकड़ने वाले हाथ भी सदा पकड़कर नहीं रखेंगे, पकड़नेवाला अंतःकरण भी सदा पकड़कर नहीं रखेगा और पकड़े हुए पदार्थ भी सदा नहीं रहेंगे क्योंकि भोक्ता, भोग्य पदार्थ और भोग यह जो त्रिपुटी है, जो भी व्यक्त है वह माया का विस्तार है। माया का अर्थ हैः 'जो नहीं है।' **या मा सा माया।** माया नहीं है फिर भी दिखती है। जो हो नहीं और दिखे वह टिक कैसे सकता है? जो दिखता है वह भी निरंतर बदलता रहता है।

लोगों की ऐसी भ्रांति है कि 'इन पदों के बिना, प्रतिष्ठा के बिना, रूपयों के बिना, जगत के पदार्थों के बिना हम जी नहीं सकते हैं।' सही बात तो यह है कि इन चीजों के साथ संबंध तोड़े बिना हम जी नहीं सकते। अच्छे से अच्छा बँगला, पत्नी-पति, रूपये-पैसे सबके साथ रात्रि को जब

संबंध तोड़ते हो तभी नींद का सुख ले पाते हो और दूसरे दिन पुनः संबंध जोड़ने की शक्ति आती है।

क्या नींद में याद रहता है कि यह मेरा पद.... यह मेरी पत्नी... यह मेरा बंगला....? नहीं सब भूल जाते हो। जब तक याद रहता है तब तक सो भी नहीं पाते। यहाँ तक कि 'यह शरीर मेरा...' यह याद रखते हो तब भी नहीं सो पाते अर्थात् शरीर के साथ भी संबंध तोड़कर आप अव्यक्त हो जाते हो। जब अव्यक्त में विलीन होते हो तभी दूसरे दिन व्यक्त का सुख लेने की योग्यता आ पाती है। अव्यक्त होकर व्यक्त का सुख लेने की योग्यता लाते हो और जब व्यक्त में बिखरकर थक जाते हो तो पुनः अव्यक्त में चले जाते हो।

जो लोग भगवान के अव्यक्त स्वरूप को नहीं जानते, वे फिर अपनी तुच्छ इच्छाओं को, इस व्यक्त देह की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए छोटे-छोटे देवी देवताओं को रिझाते हैं। देवी देवताओं के अन्दर जो फल देने का सामर्थ्य है, वह भी अव्यक्त की सत्ता है और फल माँगने की इच्छा जहाँ से उठती है वह भी अव्यक्त है... इस प्रकार मूल में सब अव्यक्त है किन्तु उस मूल तत्त्व अव्यक्त को नहीं जानते इसीलिए सारे खिंचाव-तनाव और धमाधमी चल रही है।

मछली एक पल के लिए सरोवर से बाहर, पानी से बाहर रह सकती है लेकिन हम परमात्मा से एक सेकेंड के लिए भी बाहर नहीं रह सकते। आप चाहो फिर भी एक सेकेंड के लिए भी ईश्वर से बाहर नहीं जा सकते, इतना यह व्यापक तत्त्व है। फिर भी हम इन्द्रियों के साथ, शरीर के साथ, मन के साथ, व्यक्त संसार के साथ तादात्म्य करके अव्यक्त तत्त्व को नहीं मानते, नहीं जानते। ईश्वर के सिवाय बाकी सब जानते हैं, केवल ईश्वर को ही नहीं जानते। कबीर जी कहते हैं

इक्के ते सब होत है, सबते एक न होय।

उस एक अव्यक्त तत्त्व से सब होता है किन्तु सबको मिलाने पर भी एक नहीं बनता। जिससे सबका ज्ञान होता है उस अव्यक्त को नहीं जानते। सब देकर भी जो एक नहीं मिल सकता उस एक परमात्मा को जानने का जो समय मिला है वह समय अनेक को जानने में लगा देते हैं और अनेक में जो एक छुपा है उसका ज्ञान पाना रह जाता है।

जब उसका ज्ञान पाना रह गया तो फिर आदमी बाह्य जगत में चाहे कितनी भी तरक्की कर ले, अंदर से संतुष्ट नहीं होगा, परितृप्त नहीं होगा। व्यक्त को आप कितना भी सँभालो लेकिन वह टिकेगा नहीं। अव्यक्त को कितनी भी पीठ दो, वह छूटेगा नहीं। आप जिसका कभी त्याग न

कर सको उसका नाम है परमात्मा। जिसको आप कभी रख न सको उसका नाम है माया। मजे की बात है कि परमात्मा आज तक मिला नहीं और माया आज तक गयी नहीं।

माया मिटी न मन मिटा, मर-मर गया शरीर।

जिसको हम रख नहीं सकते वह माया आज तक हटी नहीं और जिसको हम कभी छोड़ नहीं सकते वह परमात्मा आज तक मिला नहीं... क्या कारण है? भगवान कहते हैं-

'अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानता है। अर्थात् मुझको जन्मने-मरने वाला समझता है।'

उस भगवान को पाये कैसें? भगवान दिया नहीं जाता और भगवान के पास जाया नहीं जाता। भगवान की जो कल्पनाएँ-मान्यताएँ हैं वे अगर हट जायें तो भगवान एक रत्तीभर और एक क्षणभर भी हमसे दूर नहीं थे, हैं नहीं और वे चाहें तो भी हो सकते नहीं। भगवान ऐसे सुलभ हैं किन्तु योगमाया से आवृत्त होने के कारण हमें दिखते नहीं, इसलिए दूर लगते हैं, वरना दूर नहीं हैं।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो?

जो सत्य होता है वह बीतता नहीं है और जो बीतता है वह सत्य नहीं होता. दुःख बीत गया, सुख भी बीत जायेगा। दुःख-सुख दोनों बीत जाते हैं अतः दोनों मिथ्या हैं, दोनों स्वप्न हैं लेकिन दोनों को देखने वाला नहीं बीतता। अगर देखने वाला बीत जाता हो तो 'सुख चला गया... दुःख चला गया...' उसको देखनेवाला रहता कैसे? देखने वाला वही का वही रहता है।

आप सुखी हो कि दुःखी? कभी सुखी कभी दुःखी। आप धनवान हों या गरीब? कभी धनवान कभी गरीब। आप तन्दरुस्त हो या बीमार? कभी तंदरुस्त कभी बीमार। तो आप एक हो कि दो? एक हैं। अच्छा तो आप चल हो कि अचल? अगर चल हो तो बीमारी के जाने पर आपको भी चले जाना चाहिए था। 'मैं बीमार हो गया था।' आप बीमार नहीं हुए थे, भाई ! बीमार यह शरीर हुआ था किन्तु आप उससे चिपक गये थे। सुखी-दुःखी होता है मन किन्तु आप उससे चिपक जाते हो कि हाय ! मैं दुःखी हूँ।

जिसकी चेतना चिपकती नहीं है वरन् अपने-आप में प्रतिष्ठित रहती है वह बीते हुए को, आनेवाले को और वर्तमान को ज्यों-का-त्यों जानता है।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं-

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।

"हे अर्जुन ! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों को मैं जानता हूँ परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता है।"

(गीताः 7.26)

श्रीकृष्ण जैसे अदभुत निराकार तत्त्व में स्थित, अपने स्वरूप में स्थित, व्यतीत होने वाले नहीं लेकिन जो कूटस्थ है उसमें जागे हुए श्रीकृष्ण के लिए यह कहना सहज है कि जो बीत गये हैं उन्हें मैं जानता हूँ, जो अभी हैं उनको मैं जानता हूँ और जो बीतेंगे उनको भी मैं जानता हूँ लेकिन श्रद्धारहित जो मूर्ख लोग हैं वे मुझे नहीं जानते। मूर्खों को तो मैं जन्मने मरने वाला दिखता हूँ।'

जिनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ, जो चिपकने में ही अपने को बरबाद कर चुके हैं उन्हें तो श्रीकृष्ण सामान्य मनुष्य जैसे ही दिखेंगे। उन्हें अव्यक्त, निरामय, निरंजन, एकरस नहीं दिखेंगे क्योंकि वे इन आँखों-कानों से ही चिपके हैं एवं इन इन्द्रियों से जो दिखता है वही उन्हें सच्चा लगता है।

आपने देखा होगा कि विद्युत पंखे को शक्ति देती है तभी पंखा घूमता है। विद्युत की शक्ति से पंखा घूमता है लेकिन पंखे की शक्ति से विद्युत नहीं घूमेगी। विद्युत को पंखा शक्ति नहीं देता। ऐसे ही सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को वह निराकार चेतना सत्ता देती है। तीनो गुणों की प्रकृति से बने हुए इस प्राकृतिक शरीर को जो 'मैं' मानता है ऐसे मूर्ख व्यक्ति श्रीकृष्ण के अव्यक्त स्वरूप को नहीं जान सकते। परंतु जो व्यतीत को व्यतीत देखता है, उसमें चिपकता नहीं और अपने स्वरूप को जान लेता है वह अपने युग का श्रीकृष्ण ही है क्योंकि अपने आप में वह श्री कृष्ण की गरिमा का ही स्वाद ले रहा है।

यह जरूरी नहीं कि आप ओठों पर बंसी रख दो, मोरपंख बाँध लो, रासलीला करने लग जाओ और नाम कृष्ण रख लो तभी कृष्ण हो... नहीं, जहाँ श्रीकृष्ण खड़े हैं वहाँ आप भी खड़े हो जाओ। फिर आप चाहे दुकान पर बैठे रहो तब भी कोई हर्ज नहीं। श्रीकृष्ण जिसको 'मैं' मानते हैं उस 'मैं' स्वरूप में अगर हम खड़े हो गये तो परम कल्याण है।

अगर कोई अपने कमरे में बाँस की चटाई के पीछे बैठा है तो वह बाजार से गुजरने वालों को देख सकता है किन्तु बाजार से गुजरने वाले व्यक्ति केवल चटाई को ही देखते हं, व्यक्ति को नहीं। ऐसे ही जो अपने घर में बैठा है वह संसार रूपी बाजार को पूरी तरह से जानता है लेकिन संसारवालों को केवल बाहर की चटाई दिखती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं- 'श्रद्धा-भक्तिहीन पुरुष मुझे नहीं जानते।' जिनके पास श्रद्धा-भक्ति है ऐसे **'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः'** लोग जानते होंगे तभी तो कहाः 'श्रद्धाहीन नहीं जानते।' नहीं तो कह सकते थे कि 'मुझे कोई नहीं जानता....' लेकिन ऐसा कहने से श्रद्धालुओं के साथ अन्याय हो जाता। 'मुझे जानने वाले' और 'मैं' दिखते दो हैं लेकिन वे मेरा ही स्वरूप होते हैं और मैं उनका। वे मुझसे भिन्न नहीं, मैं उनसे भिन्न नहीं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

'जो पुरुष संपूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। (क्योंकि वह मुझमें एकीभाव से स्थित है।)'

(गीताः 6.30)

बाँस की चटाई के पीछे बैठे हुए आपके सामने से जो गुजर गये हैं उनको भी आपने देखा, सामने सड़क से, दूर से जो आयेंगे उन्हें भी आप देख रहे हो। लेकिन जो बीत गये उन्होंने भी आपको नहीं देखा, जो अभी आपके सामने से गुजर रहे हैं वे भी आपको नहीं देखते और जो बाद में गुजरेंगे वे भी आपको नहीं देखेंगे। वे देखते हैं केवल घर को, चटाई को। ऐसे ही 'मैं' के आगे हाड़-मांस आदि से युक्त शरीर बाँस की चटाई के समान ही है।

शुकदेव जी महाराज परीक्षित को भागवत सुनाये जा रहे थे। वर्तमान की घटनाएँ, भविष्य में होने वाले राजाओं की वंशावली सुनाने के बाद भी उन्हें लगा कि परीक्षित की ममता अभी तक हटी नहीं है अतः कृपा करके उन्होंने एक कथा सुनाना आरंभ कियाः

तुंगभद्रा नदी के तट पर एक बड़ा सुंदर राज्य था। उस राज्य का राजा शिकार का बड़ा शौकीन था। वह जंगलों में जाता और हिरणों के पीछे अपने घोड़े को दौड़ाता एवं शिकार करता। एक बार राजा अपने साथियों से बिछुड़ गया। रात्रि हो गयी। वह राजा भूख-प्यास और सर्दी से

व्याकुल हो गया। जंगल में भटकता-भटकता किसी चाण्डाल के झोंपड़े के पास पहुँचा और चाण्डाल से बोलाः

"भाई ! तू आज रात मुझे यहीं रहने दे।"

चाण्डाल के झोंपड़े में दो हिस्से थे। एक में वह खुद रहता था और दूसरे हिस्से में पशुओं की हड्डियाँ, रक्त, मांसादि पड़े रहते थे।

चाण्डाल बोलाः "मेरे पास अधिक कोई जगह नहीं है। एक हिस्से में मैं पूरे कुटुम्बसहित रह रहा हूँ और दूसरे में यह सामान पड़ा है।"

राजाः "कैसे भी करके मुझे ठण्ड से बचाओ। हिंसक प्राणियों से रक्षा के लिए जहाँ मांसादि पड़ा है वहीं रह लेने दो। मैं कैसे भी करके रात काट लूँगा।"

चाण्डाल ने उस राजा को रहने दिया। रात भर रहते-रहते राजा को वहाँ रहने की आदत पड़ गयी। सुबह हुई तब चाण्डाल बोलाः "जाओ भाई ! अब अपना रास्ता पकड़ो।"

राजाः "यह तू क्या बोलता है? मुझे नहीं जानता? मैं सम्राट हूँ। यह घर मेरा है। मैं यहीं रहूँगा।"

अब वह राजा उस बेचारे चाण्डाल का घर खाली नहीं कर रहा है। राजा होकर किसी चाण्डाल के झोंपड़े को अपने बाहुबल से कब्जा कर लेना उचित नहीं है।

परीक्षितः "भगवन् ! आप आज्ञा करें तो मैं जाकर उसको समझाऊँ।"

शुकदेवजीः "तुम्हारी बात वह न माने तो?"

"नहीं मानेगा तो तीर-कमान उठा लूँगा, उसका कान पकड़कर झोपड़े से बाहर निकाल दूँगा।"

शुकदेव जीः "वह राजा कहीं दूर नहीं है। यहीं सामने बैठा है, परीक्षित ! हड्डी-मांस, रुधिर और चमड़े में आया था कुछ देर के लिए बसेरा करने लेकिन अब उसके साथ ऐसा चिपक गया कि निकलने का नाम ही नहीं ले रहा।"

परीक्षित समझ गया कि इशारा मेरी ओर ही है।

जैसे वह राजा झोंपड़े में चिपक गया था ऐसे ही हम लोग शरीर एवं शरीर के कृत्यों से चिपक गये हैं। शरीर के भावों से, सुख-दुःख से चिपक गये हैं। शरीर के भावों से, सुख-दुःख से

चिपक गये हैं इसीलिए हमारी वह शक्ति नष्ट हो गयी है और भूत, वर्त्तमान और भविष्य को हम नहीं समझ रहें हैं। किन्तु श्रीकृष्ण चिपके नहीं हैं इसलिए उनके लिए आसान है और हमारे लिए असंभव सा हो गया है।

भूत, भविष्य और वर्त्तमान ये तीन काल वास्तव में तीन नहीं हैं। समय नहीं बीतता वरन् हम ही बीतते चले जाते हैं। समय तो वही का वही है। जैसे, कोई नया-नया ट्रेन में बैठे तो उसे लगेगा कि पेड़ तेजी से भागे जा रहे हैं। ऐसे ही वक्त तो ज्यों का त्यों खड़ा है लेकिन भागनेवाले शरीर में हम बैठे हैं तो लगता है कि समय व्यतीत हो गया। समय व्यतीत नहीं हुआ बल्कि हम ही बीतते चले जा रहे हैं।

काल तीन नहीं है वरन् हम देह में बैठकर, इन्द्रियों में बैठकर, मन में बैठकर कल्पना करते हैं। पीछे की जो कल्पना करते हैं उसे हमने भूतकाल कहा, आगे का सोचते हैं उसको हमने भविष्यकाल कहा और जब भी सोचेंगे तो वर्त्तमानकाल में बैठकर सोचेंगे। बिना वर्त्तमान के न भूत की सिद्धि होती है और न भविष्य की सिद्धि होती है।

हम जिस देह में बैठकर सोचते हैं वह पहले नहीं थी, बाद में भी नहीं रहेगी लेकिन परमात्मा पहले था, बाद में रहेगा और वह अभी भी है। वह अभी भी है इसलिए उसके आगे से सुख भी गुजर जाता है, दुःख भी गुजर जाता है और अभी जो सामने है उसका भी उसे पता चलता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं किः 'हे अर्जुन ! पूर्व में व्यतीत हुए, वर्त्तमान में स्थित तथा आगे आनेवाले सब भूतों को मैं जानता हूँ।' जैसे श्रीकृष्ण सबको जानते हैं ऐसे ही आप भी इस जीवन की सब परिस्थितियों को जान सकते हो। अभी तक जो हुआ उसको तो आप जानते हो। अभी जो हो रहा है उसे भी आप देख रहे हो लेकिन भविष्य को नहीं देख सकते। क्यों? क्योंकि हाड़-मांस की देह के साथ आप चिपके हैं इसीलिए भविष्य आपको दिखता नहीं।

भविष्य भी क्या होगा? जो बीत गया वह स्वप्न, जो बीत रहा है वह स्वप्न तो जो आयेगा वह भी तो स्वप्न ही है। किन्तु हम कल्पनाओं में इतने उलझ जाते हैं कि स्वप्न को ही सत्य मान बैठते हैं और कृष्ण तत्त्व को, श्रीकृष्ण की बातों को समझ नहीं पाते हैं। नहीं तो श्री कृष्ण तो हमको श्रीकृष्ण बनाने के लिए तैयार हैं।

लोग कहते हैं- 'महाराज ! भगवान की प्राप्ति के हम अधिकारी नहीं हैं।' अरे भैया ! कुत्ते को सत्संग सुनने का अधिकार नहीं है। गधे को योग करने का अधिकार नहीं है। भैंस को भागवत सुनने का अधिकार नहीं है। चिड़िया को चान्द्रायण व्रत करने का अधिकार नहीं है.... किन्तु चान्द्रायण व्रत करने का अधिकार आपको, भक्ति करने का अधिकार आपको, योग करने

का अधिकार आपको, भक्ति करने का अधिकार आपको सत्संग-श्रवण करने का अधिकार आपको... ये सारे अधिकार तो परमात्मा ने आपको ही दे रखे हैं। फिर क्यों आप अपने को अनधिकारी मानते हो?

चौरासी लाख योनियों में से भगवत्प्राप्ति की सुविधा मनुष्य जन्म में ही है। भगवत्प्राप्ति का अधिकार किसी और को नहीं है। देवताओं को भी अगर साक्षात्कार करना हो तो मनुष्य बनना पड़ता है। ऐसा मनुष्य जन्म आपको मिला है। ईश्वर ने ऐसा उत्तम अधिकार आपको दे दिया है, फिर आप क्यों अपने को अनधिकारी मानते हो? अपने को अनधिकारी मानना यही ईश्वर-प्राप्ति में बड़े-में-बड़ा विघ्न है।

ईश्वर-प्राप्ति कोई अवस्था नहीं है। ईश्वर प्राप्ति किसी परिस्थिति का सर्जन नहीं है। परिस्थिति का सर्जन करके भगवान को पाना है या कहीं चलकर भगवान को पास जाना है ऐसी बात नहीं है वरन् वह तो हमसे एक सूत भर भी दूर नहीं है। लेकिन हम जिन विचारों से संसार की ओर उलझे हैं उन्हीं विचारों को आत्मा की तरफ लगाना उसका ही नाम है ईश्वर की ओर चलना, साक्षात्कार की ओर चलना।

ईश्वर हमसे अलग नहीं हुआ है। वह तो सर्वत्र है किन्तु हम ही ईश्वर से विमुख हो गये हैं। परमात्मा से हमारा वियोग नहीं हुआ लेकिन परमात्मा से हमारी विमुखता हो गयी है। जो मिलता है वह बिछुड़ता जरूर है। जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी होता ही है। जिसका वियोग होता है उसका फिर संयोग हो यह जरूरी नहीं है। किन्तु परमात्मा से हमारा वियोग नहीं हुआ है, वरन् विमुखता हुई है। अगर हम सन्मुख हो जायें तो वह मिला हुआ ही है।

एक माई थी। उसने साढ़े तीन चार तोले सोने का बढ़िया हार पहन रखा था। सुबह आटा पीसते समय हार आगे झूलकर विक्षेप कर रहा था अतः उसने हार को गले में पीछे की ओर सरका दिया। आटा पिस जाने के बाद वह घर के दूसरे कार्यों में व्यस्त हो गई। फिर उसे अचानक हुआ कि 'अरे ! हार कहाँ गया?' उसने अल्मारी, टेबल, पलंग आदि सब जगह देख लिया, कइयों से पूछा कि 'मेरा हार देखा है?' सबने कहाः "नहीं।"

उस टोले में एक समझदार माई थी। उसने पूछाः

"कैसा था हार?"

"वही हार जो मैं हमेशा पहनती थी।"

"हाँ-हाँ। मैंने देखा है।"

"अरे ! तो बता न कहाँ है?"

"तेरे ही पास है।"

"मेरे पास? मेरे पास होता तो मिलता न?"

"हाँ हाँ, तेरे ही पास है और तेरे से अलग भी नहीं हुआ।"

"मुझसे अलग नहीं होता तो मैं ढूँढती क्यों?"

"तेरे साथ है तेरे पास है। उसका तेरे से वियोग हुआ ही नहीं है।"

"बता दे न, दया कर जरा।"

तब उस चतुर माई ने उसके गले में पीछे की ओर स्थित हार को आगे की ओर खींचते हुए कहाः "देख, यह रहा तेरा हार।"

"अरे ! तूने बड़ी कृपा की, बहन ! मेरा हार दिला दिया।"

"मैंने क्या दिलाया? तुझे ही विस्मृति हो गयी थी। मैंने तो केवल हार की स्मृति ही करवायी है। बाकी तो हार तेरे पास ही था।"

ऐसे ही आप भी केवल स्मृति कर लो। अपनी वृत्ति को जरा-सा अपनी ओर... अपने आत्मस्वरूप की ओर कर लो। फिर तो.....

वो थे न मुझसे दूर न मैं उनसे दूर था।
आता न था नजर तो नजर का कसूर था।।

जीव सत्यस्वरूप, साक्षीस्वरूप, अंतर्यामी परमात्मस्वरूप से बिछुड़ गया है। मनुष्य जन्म में भी अगर बिछुड़ा ही रहा तो फिर किस जन्म में उसे पायेगा? गधा योग नहीं कर सकता और भैंस भागवत नहीं सुन सकती। चौरासी लाख योनियों में से ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है जो तत्त्वज्ञान का विचार कर सके। केवल मनुष्य ही है जो तत्त्वज्ञान का विचार करके सत्य को पा सकता है और सत्य इतना सरल है, इतना सहज है, इतना सुलभ है और इतना निकट है कि आप उसको हटाना चाहो तो भी हट नहीं सकता। आप अगर भगवान को अपनी ओर से हटा देना चाहो तो आपके बस की बात नहीं है और भगवान हट जाना चाहें तो भगवान के बस की बात नहीं है.... ऐसा वह भगवान है।

ईश्वर चाहे तो भी आपसे जुदा नहीं हो सकता और आप चाहो तो भी उस से जुदा नहीं हो सकता लेकिन हम लोग उससे विमुख हो गये हैं, बस। सम्मुख होने से लाभ है और विमुख होने से घाटा है।

एक लड़का अपने धनवान पिता से विमुख हो जाता है तो चार पैसे की नौकरी के लिए धक्के खाता है। अगर वह पिता का हो जाये तो पिता की पूरी सम्पत्ति का मालिक हो जाता है।

ऐसे ही हम ईश्वर के हो जायें तो पूरे विश्व के स्वामी हैं और ईश्वर से विमुख होकर पद-प्रतिष्ठा और धन के परायण हो जायें तो फिर पद-प्रतिष्ठा और धन के भी दास हो जाते हैं।

यह मनुष्य जन्म बड़ा ही कीमती है। जो कभी हमसे बिछुड़ा नहीं है उसके सम्मुख हो जाना कोई कठिन बात नहीं है लेकिन हमने उसको कठिन मान रखा है। हालाँकि कठिन तो यह है कि न रहने वाली वस्तुओं को रखने की कोशिश, न रहने वाले मित्रों को राजी करने की कोशिश करना कठिन है और कठिन कोशिश करते हुए भी ये सब टिकते नहीं हैं। ऐसे असंभव काम में भी आप प्रयास कर सकते हो तो जो सदा रहने वाला है, जो सदा, सर्वत्र, सबके साथ है उसको पाने का प्रयास क्यों नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हो।

उठो.... जागो.... मारो छलाँग। लगाओ गोता। आपमें ईश्वर का असीम बल छुपा हुआ है.... हरि ॐ.... ॐ..... ॐ....

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

परमात्म-प्राप्ति में बाधकः इच्छा और द्वेष

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।।

'हे भरतवंशी अर्जुन ! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं।'

(गीताः 7.27)

इच्छा और द्वेष से सुख-दुःख आदि द्वन्द्व पैदा होते हैं और उसी के कारण हम अज्ञता की गहरी खाई में पड़े हैं। इच्छा और राग-द्वेष न हो तो ईश्वर को पाने का, ईश्वर को खोजने का प्रयास विशेष रूप से करने की जरूरत नहीं रहती है। क्यों ? क्योंकि पाया वही जाता है जो खोया गया हो। जबकि ईश्वर को हम खोना चाहें तो भी खो नहीं सकते। इच्छा और द्वेष से द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं और उन द्वन्द्वों के कारण ही हम अज्ञता की, नासमझी की खाई में गिरे हुए हैं।

हमारी जो ज्ञान-सत्ता है वही तो परमात्मा है लेकिन इच्छा और द्वेष के कारण उस ज्ञान-सत्ता को हम नहीं जान पाते। ये इच्छा और द्वेष एक-दो व्यक्ति को नहीं, बल्कि संपूर्ण प्राणियों को उलझा देते हैं।

इच्छा करते ही, द्वेष करते ही चित्त डाँवाडोल होने लगता है। हम करते क्या हैं? हम अनुकूल परिस्थितियों की इच्छा करते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से द्वेष करते हैं। इच्छा और द्वेष करने पर कोई जपी, कोई तपी, कोई साधु, कोई योगी जप, तप, साधुताई और योग के फल को नहीं पा सकता। यदि इच्छा और द्वेष से पल्ला नहीं छुड़ाया तो समझ लेना चाहिए कि अभी ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पाया, अभी भी फकीरी नशा नहीं चढ़ पाया, अभी भी ब्रह्मज्ञान का रंग नहीं लगा।

हम धार्मिक, भक्त, साधक, योगी, तपस्वी कहला भी लें, मान भी लें लेकिन अन्दर में जो गीत गूँजना चाहिए, जो ईश्वरीय अद्वैत मस्ती आनी चाहिए, जो जीवन्मुक्ति का अनुभव हस्तामलकवत् होना चाहिए, वह हमको नहीं होता और उसमें अड़चनरूपी दो ही बाते हैं- इच्छा और द्वेष।

मैंने सुनी है एक बातः

इब्राहीम का नियम था कि किसी अतिथि को भोजन कराने के बाद ही भोजन करना। एक दिन काफी देर हो गयी किन्तु इब्राहीम को कोई अतिथि साधु फकीर नहीं मिला। इब्रहीम का नियम कैसे पूरा होता? अतः वे स्वयं ही निकल पड़े किसी अतिथि-साधु-फकीर को खोजने के लिए।

मार्ग में उन्हें एक भूखा-प्यासा दरिद्र व्यक्ति मिला। इब्राहीम मानसहित उसे अपने घर ले आये और बड़े प्रेम से भोजन की थाली उसके सामने रख दी।

उस दरिद्र व्यक्ति ने भोजन करने से पूर्व न तो नमाज पढ़ी न ही खुदाताला का शुक्रगुजार किय। न उसने हाथ जोड़े और न ही इब्राहीम को धन्यवाद किया। यहाँ तक कि उसने हाथ भी नहीं धोये और भोजन करना शुरु कर दिया।

इब्राहीम को उस व्यक्ति की चेष्टा देखकर खेद हुआ और वे उससे बोलेः

"तुमने न तो खुदाताला का शुक्रगुजार किया और न ही परमात्मा को हाथ जोड़े किन्तु कम-से-कम हाथ तो धो लिए होते?"

व्यक्तिः "मैं पारसी हूँ। मैंने मन-ही-मन अग्निदेव का अभिवादन कर लिया है। अब खुदाताला का शुक्रगुजार करूँ या न करूँ? मुझे आपने भोजन करने के लिए बुलाया था न कि खुदाताला का शुक्रगुजार करने के लिए।"

इब्राहीम चिढ़ गये और उसे उठा दिया।

कथा कहती है कि उसी समय आकाशवाणी हुईः

"इब्राहीम ! यह भूखा कितने वर्ष का होगा?"

"मालिक ! करीब 36 वर्ष का।"

"उसने मेरा अभिवादन नहीं किया, फिर भी 36 साल तक मैं उसे सँभालता रहा और तू उसे 36 मिनट तक भी सँभाल न सका? एक बार का भोजन तक न करा सका?"

दाता हो जाना एक बात है और राग-द्वेष से रहित हो जाना यह ऊँची बात हैं। अतिथि को भोजन करवाने का नियम लिया, फकीर हो गये यह तो बढ़िया बात है किन्तु खुदा का नाम लेने वाले के प्रति राग और न लेने वाले के प्रति द्वेष करने वाला व्यक्ति खुदा से दूर होता है।

अगर हम राग द्वेष से रहित होकर प्राप्त परिस्थिति का, मिली हुई वस्तुओं का उपयोग करते हैं तो मुक्ति तो मुट्ठी की चीज है। बड़ी गलती तो यह होती है कि हम जब ध्यान भजन करते हैं तो यह समझते हैं कि 'हम भगवान की भक्ति कर रहे हैं' और जब व्यवहार में होते हैं तो यह समझते हैं कि 'हम संसार का व्यवहार कर रहे हों।' इस प्रकार जो भक्ति करते हैं वे राग-द्वेष को निर्मूल करने पर ध्यान दें और जो संसार से चिपके हैं वे प्रभु में राग करें। संसार के विकारी रसों से उपराम होकर भक्ति-रस पायें।

द्वन्द्वमोहेन। सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से सब प्राणी मोहित हो रहे हैं। रूप-रसादि इन्द्रियों का सुख, परिस्थितियों का सुख, कीर्तन का सुख आदि सुख से एवं इनकी प्रतिकूलता के दुःख से एक नहीं वरन् संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं। अज्ञानता के कारण, नासमझी के कारण ही जन्म-मरण होता है।

इच्छा और द्वेष से सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से मानव नासमझी को प्राप्त होता है। नासमझी की वजह से ही उसका वास्तविक स्वरूप ढँका रहता है। फलतः जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। इस चक्र से वही छूट पाता है जिसको गुरु का आश्रय प्राप्त है। गोरखनाथ जी ने कहा हैः

एक भूला, दूजा भूला, भूल्या सब संसार।
विण भूल्या एक गोरखा, जिसको गुरु का आधार।।

गीता के 15 वें अध्याय में भी आया हैः द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः। जीवन में द्वन्द्व तो होंगे ही, फिर भले साधु बनो या गृहस्थी, चोर बनो या साहूकार। हमारी इच्छा होती है कि 'ऐसा दुःख न आये और सुख जाये नहीं।' किन्तु हम नहीं चाहते फिर भी दुःख आता है और वह रहता

नहीं, चला जाता है। इसी प्रकार हम नहीं चाहते और भी सुख चला जाता है। वह केवल जाता ही नहीं, वापस आता भी है। इस प्रकार सुख-दुःख दोनों ही आने-जानेवाले हैं। जो आने-जानेवालों की इच्छा और उनसे द्वेष नहीं करता उसी का जीवन धन्य है।

हम इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों से इस प्रकार कुचले गये हैं कि आज तक हमारे जन्म-मरण का अंत नहीं हो सका है। हम भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, व्रत-उपवास करते हैं लेकिन इस गलती को यानी इच्छा और द्वेष को साथ लेकर करते हैं तो ज्यादा लाभ नहीं हो पाता है। अगर इच्छा और द्वेष को हटा दिया जाये तो फिर जो करें वह भक्ति हो जायेगा, पूजा हो जायेगा, उपवास हो जायेगा।

जैसे, किसान खेत में बीज डालता है तो ऐसे ही नहीं डालता वरन् पहले घास-फूस को दूर करता है। अगर ऐसे ही बीज डाल दे तो भूमि के रस को जंगली घास ही चूस लेगी और बीज को ठीक से पुष्टि नहीं मिलेगी। बीज को ठीक से पुष्ट और विकसित करके पुष्पित एवं फलित करना है तो पहले भूमि को साफ करना पड़ता है। ऐसे ही भक्ति, पूजा, उपासना आदि को परमात्म-प्राप्ति रूपी फल के रूप में विकसित करना हो तो चित्त से राग-द्वेषरूपी घास-फूस को दूर करना आवश्यक है।

जितने अंशों में हम इच्छा और द्वेष से, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से बचते हैं उतने ही अंश में हम सत्य के, परम तत्त्व के करीब होते हैं। किन्तु इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले मोह से हम लोग विमोहित हो जाते हैं। तुलसीदास जी ने कहा हैः

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
ताते उपजे पुनि भवशूला।।

मोह सब व्याधियों का मूल है और उससे भव का शूल, जन्म-मरण का शूल पैदा होता है। मोह उत्पन्न होता है माया से। 'मैं अरु मोर-तोर की माया.....'

इस देह को मैं मानना और देह के साथ संबंधित जड़ पदार्थों को, व्यक्तियों को मेरा मानना यह माया है। इसी माया से इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होते हैं। इसी से द्वन्द्व पैदा होते हैं जिनसे संपूर्ण प्राणी बँधे हुए हैं।

बाँधा भी माया ने नहीं है, मायाधीश ने भी नहीं बाँधा किन्तु हम स्वयं ही चिपक गये हैं। चिपकने का मुख्य कारण क्या है? इच्छा और द्वेष। अपना क्षुद्र व्यक्तितत्त्व बनाकर अपनी इच्छा से जब चिपके रहते हैं तब हम माया में फँस जाते हैं। अगर हम मायाधीश की हाँ में हाँ मिला दें

तो हम नहीं बचेंगे, वही रह जायेगा और वही है शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप परमात्मा। ...और परमात्मा की तो कोई इच्छा ही नहीं होती। उसे किसी से भी द्वेष नहीं होता।

आवश्यकता और इच्छा में भी फर्क है। आवश्यकता पूरी करने में कोई पाप नहीं है, कोई आपत्ति नहीं है और कोई ज्यादा परिश्रम भी नहीं है लेकिन इच्छा पूरी करने में जीवन बरबाद हो जाता है। इच्छा अगर पूरी नहीं होती तो द्वेष होता है। फिर उससे द्वन्द्व और मोह पैदा हो जाते हैं और मोह सकल व्याधियों का मूल है।

हमारा मूल स्वरूप तो शांत ही था किन्तु विपरीत इच्छाओं ने हमें परेशान कर दिया। आवश्यकता परेशान नहीं करती, इच्छा ही परेशान करती है। जो इच्छा संसार के प्रति होती है उसी इच्छा को अगर भगवान के प्रति मोड़ दिया जाये, जन्म-मरण से द्वेष कर लिया जाये तो मानव निहाल हो जाये।

हमारे पास जो है, जो हमें प्राप्त है, उसका अगर सदुपयोग करना सीख जायें तो भी कल्याण हो सकता है। सुदपयोग न करें, केवल भगवान के प्रति उपयोग कर दें तब भी हमारी इच्छा और द्वेष से हमारी मुक्ति हो सकती है, हमारा कल्याण हो सकता है। इच्छा और द्वेष तो हैं ही किन्तु उसी इच्छा और उसी द्वेष को भगवान के साथ लगा दें। शिशुपाल ने द्वेष किया, कंस और रावण ने द्वेष किया लेकिन भगवान के साथ किया तो वे तर गये। गोपियों ने इच्छा की भगवान से मिलने की तो वे तर गयीं। आप भी राग और द्वेष का उपयोग कर लो तो बेड़ा पार हो जाये।

जो मुक्ति की इच्छा करता है उसमें सदगुण अपने आप पनपने लगते हैं। उसके अन्दर त्याग आने लगेगा, उसके द्वारा दान होने लगेगा, संतों का संग होने लगेगा, तत्त्वज्ञान में रूचि होने लगेगी।

इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों से बचने के लिए स्वर्ग जाने की जरूरत नहीं है और नर्क जाने की भी जरूरत नहीं है। पाताल में जाने की भी जरूरत नहीं है, और आकाश में उड़ान भरने की भी जरूरत नहीं है। केवल जरूरत है तो उनका सदुपयोग करने की।

प्राचीन समय की बात है।

काशीनरेश ने एक बार रात्रि में स्वप्न देखा। स्वप्न में देवदूत ने उनसे कहाः

"नरेश ! तुम बड़े पुण्यात्मा हो। तुम्हारे लिए स्वर्ग में एक आवास बना है और जब चाहो तब तुम उसमें आराम कर सकते हो।"

यह देखकर राजा को अपने पुण्यात्मा होने का गर्व हुआ। गर्व मनुष्य की योग्यता को मार डालता है। राजा को हुआ कि जब स्वर्ग में मेरे लिए आवास की तैयारी है तो अब मुझे क्या चिन्ता?

अज्ञानी जीव को जब संसार की तुच्छ चीजें भी मिल जाती हैं तो वह निरंकुश हो जाता है।

एक बार काशीनरेश जंगल में गया तो खुशनसीबी से वहाँ उसे एक महात्मा का झोंपड़ा दिखा। उसने सोचाः 'चलो, जरा सुन लें महात्मा के दो वचन।'

महात्मा के पास जाकर उसने पुकारा किन्तु महात्मा तो बैठे थे निर्विकल्प समाधी में। वे क्या जवाब देते? राजा को हुआ किः 'मैं काशी नरेश ! इतना धर्मात्मा ! ये मेरे राज्य में रहते हैं फिर भी मेरी आवाज तक नहीं सुनते ! इनको कुछ सबक सिखाना चाहिए।

सत्ता और अहंकार आदमी को अंधा बना देते हैं। राजा ने घोड़े की लीद उठाकर बाबा के सिर पर रख दी। संत तो समाधिस्थ थे किन्तु प्रकृति से यह न सहा गया।

थोड़े दिन बाद पुनः वही देवदूत राजा के सपने में दिखा और कहाः

"राजन ! स्वर्ग में तुम्हारे लिए जो आवास बना था, वह तो है किन्तु पूरा लीद से भर गया है। उसमें एक मक्खी तक के लिए जगह नहीं है तो तम उसमें कैसे घुस सकोगे?"

राजा समझ गया किः 'अरे ! संत का जो अपमान किया था, उसी का यह परिणाम है।' जिनके चित्त में इच्छा और द्वेष नहीं है उनको आप जैसी चीज देते हो वह अनंतगुनी हो जाती है। आप अगर आदर देते हो तो आपका आदर अनंतगुना हो जाता है। अगर आप उनसे प्रीति करते हो तो आपके हृदय की प्रीति अनंतगुनी हो जाती है। आप उनमें दोष देखते हो या उनसे द्वेष करते हो तो आपके अंदर अनेक दोष आ जाते हैं। जैसे, खेत में आप जो बोते हो वही उगता है। हो सकता है कि खेत में कोई बीज न भी उगे, किन्तु ब्रह्मवेत्ता के खेत में तो सब उग जाता है। तभी नानक देव जी ने कहा हैः

करनी आपो आपणी, के नेड़े के दूर।

अपनी करनी से ही आप अपने भगवान के, महापुरुषों के करीब महसूस करते हो और अपनी ही करनी से आप अपने को उनसे दूर महसूस करते हो।

कभी हम अपने को ईश्वर के नजदीक महसूस करते हैं और कभी दूर महसूस करते हैं क्योंकि हम जब इच्छा और द्वेष के चंगुल में आ जाते हैं तो ईश्वर से दूरी महसूस करते हैं और सात्त्विक भाव में आते हैं तो ईश्वर के नजदीक महसूस करते हैं। किन्तु यदि इच्छा और द्वेष से रहित हो गये तो फिर ईश्वर और हम दो नहीं बचते बल्कि 'हम न तुम, दफ्तर गुम...' ऐसी स्थिति आ जाती है।

उस काशी नरेश ने देवदूत की बात समझ ली कि मैंने महापुरुष का अपमान किया इसलिए स्वर्ग में मेरा जो आवास था, वह लीद से भर गया है।

सुबह उठकर उसने वजीरों से बात कीः "कैसे भी करके वह लीद का भण्डार खाली हो जाये ऐसी युक्ति बताओ।"

चतुर वजीरों ने कहाः "राजन ! एक ही उपाय है। आप ऐसा कुछ प्रचार करवाओ ताकि लोग आपकी निंदा करने लग जायें। लोग जितनी निंदा करेंगे उतनी लीद उनके भाग्य में चली जायेगी। आपका निवास साफ हो जायेगा।"

राजा ने न किये हों ऐसे दुराचरणों का, दुर्व्यवहारों का कुप्रचार राज्य में करवाया और लोग राजा की निंदा करने लगे। कुछ ही दिनों के बाद देवदूत ने स्वप्न में आकर कहाः

"राजन ! तुम्हारा वह करीब-करीब खाली हो गया है। अब एक कोने में थोड़ी सी लीद बच गयी है। वह लीद तुमको ही खानी पड़ेगी।"

राजा ने देवदूत से प्रार्थना कीः "उसको खत्म करने का उपाय बता दीजिए।"

देवदूतः "नगर के और लोग तो तुम्हारे दुराचरणों का प्रचार सुनकर निंदा करने लग गये हैं लेकिन एक लुहार ने तुम्हारी अभी तक निंदा नहीं की क्योंकि वह लुहार सोचता है कि जब 'जब ईश्वर ने सृष्टि बनाई तो मैं क्यों किसी की निंदा सुनकर द्वेष करूँ और किसी की प्रशंसा सुनकर इच्छा करूँ? मैं इच्छा-द्वेष नहीं करता। मैं तो मस्त हूँ अपने आप में' वह है तो लुहार लेकिन है मस्त... इच्छा-द्वेष से बचा हुआ है। वह लुहार अगर तुम्हारी थोड़ी-सी निंदा कर ले तो तुम्हारे महल की एकदम सफाई हो जायेगी।"

यह सुनकर राजा वेश बदल कर लुहार के पास आया और राजा की निंदा करने लगा। तब लुहार ने कहाः

"आप भले राजा की निंदा करो लेकिन मैं आपके चक्कर में आने वाला नहीं हूँ। अब बाकी की बची जो लीद है, वह आपको ही खानी पड़ेगी। मुझे मत खिलाओ।"

तब राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछाः "तुम कैसे जान गये?"

लुहारः "परमात्मा सर्वव्यापक है। वह मेरे हृदय में भी है। ये देवदूत या देवता क्या होते हैं? सबको सत्ता देने वाला अनंत ब्रह्माण्डनायक मेरा आत्मा है। वेश बदलने पर भी आपको मैं जान गया और देवदूत आपको सपना देता है यह भी जान गया। वह लीद आपको ही खानी पड़ेगी।"

जब इच्छा और द्वेष होता है तभी सब उलटा दिखता है। जिसके जीवन में इच्छा-द्वेष नहीं होते उसे सब साफ-साफ दिखता है। जैसे, दर्पण के सामने जो भी रख दो वह साफ-साफ दिखता है वैसे ही इच्छा-द्वेषरहित महापुरुषों का हृदय होता है। श्रीकृष्ण के ये दो ही वचन अगर जीवन में उतर जायें तो काफी हैं।

अज्ञानता को कैसे दूर किया जा सकता है? श्रेष्ठ कर्मों के आचरण से अपने पापों को नष्ट करके मनुष्य द्वन्द्व रूप मोह को दूर कर सकता है एवं प्रभु का भजन दृढ़ता पूर्वक कर सकता है।

इसी बात को आगे के श्लोक में समझाते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते दृढव्रताः।।

'(निष्काम भाव से) श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादिजनित द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त और दृढ़ निश्चय वाले पुरुष मुझको भजते हैं।'

(गीताः 7.28)

जगत की वासनाएँ ही पाप हैं और निष्काम कर्म पुण्य हैं। पुण्यकर्मों के द्वारा जिनके पापों का अन्त हो गया है वे द्वन्द्व और मोह से मुक्त होकर, ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात दृढ़ता पूर्वक मुझे भजते हैं।

मोह विचार से दूर होता है और द्वन्द्व ज्ञाननिष्ठा से। इसलिए पहले मोह दूर होगा और फिर द्वन्द्व समाप्त होंगे क्योंकि द्वन्द्वों की उत्पत्ति मोह से ही होती है। द्वन्द्व-मोह से मुक्ति, दृढ़ व्रत और भजन ये तीनों बातें एक साथ ही होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि विवेक होने के पश्चात जो

भजन करता है उसे द्वन्द्व चलायमान नहीं कर सकते क्योंकि विवेक द्वारा उसने अपनी असंगता का अनुभव कर लिया है।

निष्काम कर्म से, श्रेष्ठ कर्म से, पुण्यकर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्ध हृदयवाला ही दृढ़व्रती होकर, कृतनिश्चयी होकर भगवान का भजन कर सकता है।

लोग भगवान के भजन का प्रारंभ तो करते हैं किन्तु बीच में ही भजन छूट जाता है। चार दिन भजन करते हैं, फिर छूट जाता है। नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। समय का नियम छूट जाये, कोई बात नहीं। स्थान का नियम छूट जाये कोई बात नहीं। किन्तु जो व्रत अपने जीवन में ग्रहण करें उसका पालन अवश्य करना चाहिए। समय और स्थान का नियम टूटने पर भी व्रत नहीं टूटना चाहिए। भगवान का भजन, नाम-जप दृढ़ता से करना चाहिए।

तमाम प्रकार की इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व हमारे चित्त की शक्तियों को बिखेर देते हैं लेकिन जिनके पापों का अन्त हो गया है ऐसे भक्त चित्त की तमाम शक्तियों को केन्द्रित करके भगवान के भजन में दृढ़तापूर्वक लग जाते हैं। दृढ़ता से भगवान का भजन करने वाले स्वयं ही भगवन्मय हो जाते हैं।

भजन में जब तक दृढ़ता नहीं आती तब तक भजन का रस आता और जब तक भजन का रस नहीं आता तब तक संसार के रस का आकर्षण भी नहीं जाता। यदि एक बार भी भगवद्-भजन का रस मिल जाये तो संसार के समस्त रस फीके हो जाते हैं।

धन-वैभव, साधन-संपदा अज्ञान से सुखद लगते हैं लेकिन उनमें द्वन्द्व रहते हैं। राग-द्वेष, इच्छा-वासना के पीछे जीव का जीवन समाप्त हो जाता है और द्वन्द्वों से मुक्त हुए बिना भगवान की दृढ़ भक्ति भी प्राप्त नहीं हो सकती।

निर्द्वन्द्व तो वही हो सकता है जिसने पुण्य कर्मों के द्वारा अपने पापों को नष्ट कर दिया है। निर्द्वन्द्व तो वही हो सकता है जिसने श्रीकृष्ण के ज्ञान को, ब्रह्मवेत्ता सदगुरु के ज्ञान को पचा लिया है।

किसी सच्चे सदगुरु का मार्गदर्शन मिल जाये और साधक दृढ़व्रती होकर उस मार्ग पर चल पड़े तो परमात्म-प्राप्ति का कार्य सरल बन जाता है।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

प्रयाणकाल में भी ज्ञान हो जाय तो मुक्ति

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।

'जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को तथा संपूर्ण अध्यात्म को और संपूर्ण कर्म को जानते हैं।'

(गीताः 7.29)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।

'जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अंतकाल में भी जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष मुझको ही जानते हैं अर्थात् मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

(गीताः 7.30)

श्रीकृष्ण के इन वचनों का अभ्यास करने से, विचार करने से एवं इनके अर्थ में डूब जाने से संसार की भ्रांति का उन्मूलन होता है।

असत् देह एवं मिथ्या व्यवहार की जो आसक्तियाँ हैं वे सम्यक् ज्ञान से निवृत्त होती हैं। सम्यक् ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान, ठीक ज्ञान जगत का है। जगत का जितना चिंतन होगा, जगत को जितना सत्य मानेंगे, चित्त जितना बहिर्मुख होगा उतना ही आदमी दीन-हीन होग। जगत की जितनी लापरवाही करके ईश्वर की शरण होता है उतना ही आदमी हर क्षेत्र में सफल होता है।

परमात्मा का आश्रय छोड़कर जो अपने बल से, अपनी बुद्धि से, अपनी अक्ल से कुछ करता है उसे कुछ मिल भी जाता है तो अभिमान होता है और नहीं मिलता है तो विषाद होता है। जो लोग भगवान का आश्रय लेकर चलते हैं उन्हें फिर भगवान पर आधारित होकर आलसी-प्रमादी नहीं बन जाना चाहिए। उनको भगवान के आश्रय से यत्न करना चाहिए।

सब कुछ भगवान पर छोड़कर कर्महीन नहीं बनना है और मैं करता हूँ ऐसी भ्रांति से अपने आपको कर्त्ता-धर्त्ता मान कर जगत के जाल में भी नहीं फंसना है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा हैः मामाश्रित्य यतन्ति ते। यत्न तो करें लेकिन भगवान का आश्रय लेकर करें एवं फल की प्राप्ति को परमात्मा की सत्ता से प्राप्त मानें। अपने को परमात्मा का मान लें। जिस समय आपके

मन में भगवान के हो जाने का विचार होता है उसी समय अगर सच्चे दिल से आप भगवान को समर्पित हो जाते हैं तो भगवान से आपकी एकता हो जाती है, आप भगवन्मय हो जाते हैं। ....और जब आप भगवन्मय बन गये तो फिर असफलता कहाँ? जब आप भगवान के बन गये तो राग कहां और द्वेष कहाँ?

हवा हम लोगों ने नहीं बनायी। बरसात को हमने नहीं बनाया। पृथ्वी हमारी रचना नहीं है। आकाश एवं अग्नि हमारी कृति नहीं है। दिल की धड़कनें हमारी सत्ता से नहीं चलतीं। सूर्य-चन्द्र को हमने नहीं बनाया.... सब भगवान का है तो बीच में अपना अहं क्यों लाना? अपने अहं को भगवान के चरणों में विसर्जित कर दो। जिस क्षण आप भगवान के होते हैं उसी क्षण भगवान आपके हो जाते हैं।

कर्म तो करो ताकि जीवन में आलस्य-प्रमाद न आये किन्तु अपने को कर्म का कर्ता न मानो। जगत में सत्यबुद्धि, विषयों में आसक्ति एवं अपने में कर्तृत्वभाव ये जीव को दुःख देते हैं, जीव को बंधन में डालते हैं। अतः प्रयत्न तो करो किन्तु अपने में कर्तृत्वभाव न लाओ, वरन् ईश्वर की शरण होकर कार्य करो। अलग-अलग जगह पर काम करने वाली कोई महान शक्ति है। हमारा शरीर निमित्तमात्र बनता है – ऐसा समझकर कर्म तो करो लेकिन उससे सफलता मिले तो अभिमान न बढ़ाओ वरन् भगवान की कृपा से ही सफलता मिली है, ऐसा मानो।

'हवाएँ तेरी हैं। बादलों को तू बनाता है। रक्त का संचार तू करता है। सूर्य को तू चमकाता है। जीवन तू बनाता है... जब सभी में तेरी सत्ता काम कर रही है तो मैं कौन होता हूँ?' इस प्रकार अपने मैं को उस ईश्वर की चेतना में लीन हो जाने दो तो उसी समय पता चलेगा कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सबमें सारभूत परमात्मा ही है।

जो स्थूल जगत दृष्टिगोचर होता है, उसके नामरूप के पीछे सत्ता उसी परमात्मा की है। जैसे, बर्फ में सत्ता पानी की है। पानी ही बर्फ के रूप में एकत्रित होता है। ऐसे ही वह परमात्मा अनेक रूपों में प्रतीत हो रहा है। कोई व्यक्ति सामने हो तो हमें अपनी कल्पना के अनुसार ही उसमें गुण-दोष दिखते हैं। वह अमुक जाति का, अमुक उम्र का दिखता है, यह हमारी प्राकृतिक बुद्धि का ही चमत्कार है। प्राकृतिक बुद्धि से ही व्यक्ति के गुण-दोषादि दिखते हैं। तत्त्व से देखा जाये तो साररूप से सब परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। जैसे जल बर्फरूप होकर भासता है, वैसे ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा जगतरूप होकर भासता है।

यह भगवान के आधिभौतिक स्वरूप को देखने का तरीका है कि हर चीज में उसी की सत्ता है। नाम-रूप हमारे द्वारा कल्पित हैं।

आधिदैविक स्वरूपः सृष्टि के कर्त्ता हैं हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी। वे रजोगुण प्रधान हैं। उन्हीं से सृष्टि उत्पन्न होती है लेकिन ब्रह्मा जी का भी वास्तविक तत्त्व शुद्ध संवित्, चैतन्यमात्र है। ब्रह्माजी के नाम-रूप में भी अनामी आत्मा का ही प्रभाव है। ऐसा चितन करने से भगवान के आधिदैविक रूप का बोध होता है।

भगवान नारायण सत्त्वप्रधान हैं। सृष्टि के मूल में, हर अन्तःकरण में वे भगवान अंतर्यामी रूप से स्थित हैं। वे ही सत्त्वगुणप्रधान विष्णु जी होकर सृष्टि का पालन करते हुए दिखते हैं। वे ही विष्णु के रूप में क्षीरसागर में आराम कर रहे हैं। ऐसा चिंतन करके भगवान का आध्यात्मिक स्वरूप देखा जाता है।

हमारी बुद्धि प्रकृति की बनी है, इसीलिए निराकार का चिंतन नहीं कर सकती है। बुद्धि प्रकृति की बनी है, गुणों की बनी है इसीलिए वह निर्गुण को नहीं पकड़ सकती। भगवान निर्गुण निराकार हैं, इस बात का चिंतन वह ठीक से नहीं कर सकती। इसीलिए ऋषियों ने चिंतन की पद्धति ऐसी बनायी है किः 'भगवान दयालु हैं.... कृपालु हैं.... प्राणिमात्र के परम सुहृद हैं... सबके हृदय में स्थित हैं.... अंतर्यामी हैं.... करुणा के सागर हैं.... दीनानाथ हैं.... निराधारों के आधार हैं.... आदि-आदि।

निर्गुण निराकार का चिंतन नहीं हो सकता, इसीलिए सगुण साकार का चिंतन करते-करते बुद्धि परमात्माकार हो जाये। वास्तव में भगवान में कोई गुण नहीं है। गुण सब प्रकृति में हैं भगवान को केवल सत्तामात्र हैं। वास्तव में भगवान में कोई गुण नहीं है इसीलिए भगवान में सब गुण टिक सकते हैं।

भगवान में कुछ नहीं, इसीलिए भगवान में सब कुछ हो सकता है। हम लोगों में कुछ-कुछ गुण होता है। किसी में बोलने का गुण होता है। किसी में दान देने का गुण होता है। किसी में यज्ञ करने का गुण होता है। किसी में कुछ गुण होता है तो किसी में कुछ गुण होता है। हम लोगों में कुछ-कुछ गुण होते हैं और वे गुण होते तो प्रकृति के हैं लेकिन हम अपने में मानते हैं तो उतने गुण में हम रूक जाते हैं। जबकि भगवान में कोई गुण नहीं इसीलए सब गुणों को भगवान सत्ता देते हैं।

व्यक्ति जब अपनी पकड़ छोड़ देता है, उद्योग तो करता है किन्तु उपलब्धि की आशा नहीं करता, परमात्मा में मिलने के लिए तत्पर होता है तब परमात्मा उसके चित्त में जल्दी प्रगट हो जाते हैं।

जो परमात्मा को दीनदयालु नहीं मानते हैं, अंतर्यामी नहीं मानते हैं उनके हृदय में परमात्म-प्रेम नहीं छलक पाता। जो भगवान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, भगवान की शरण हो जाते हैं उनको मुक्ति तो सहज ही मिल जाती है, साथ ही साथ उनका रोम-रोम प्रेम और आनंद से भर जाता है।

भगवान के भक्त को प्रेम से भगवान के साकार रूप का दर्शन होता है और भगवान की कृपा से फिर निर्गुण-निराकार का साक्षात्कार हो जाता है। पुरुषार्थ करने से निर्गुण-निराकार का साक्षात्कार हो जाता है तो वह समझता है कि अंतःकरण मेरा नहीं है। यह प्रकृति का अंतःकरण है। उस अंतःकरण से विशेष काम लेने के लिए भगवान उसको अपने साकार रूप का भी दर्शन करा देते हैं।

'सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार इन सबमें वास्तव में तो भगवान की ही सत्ता है।' ऐसा बोध जिनको हो जाता है वे भगवान के समग्र स्वरूप को जान लेते हैं। फिर वे किसी मान्यता में, किसी गुण में उलझते नहीं हैं। सत्त्वगुण आये तो क्या? रजोगुण आये तो क्या? तमोगुण आये ते क्या? फिर तो वे तीनों गुणों में वर्तते हुए भी तीनों गुणों से अलिप्त हो जाते हैं।

भगवान कहते हैं-

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।

'जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को तथा संपूर्ण अध्यात्म को और संपूर्ण कर्म को जानते हैं।'

(गीताः 7.29)

जरामरणमोक्षाय – जरा और मरण से छूटने का मतलब यह नहीं कि 'अगर भगवान के समग्र स्वरूप को समझ लिया तो जरा नहीं आयेगी, मृत्यु नहीं आयेगी...' ऐसी बात नहीं है। लेकिन भगवान के समग्र स्वरूप को जान लेने पर यह पता चल जायेगा कि 'जरा मुझे नहीं आती, मौत मुझे नहीं आती वरन् शरीर को आती है और शरीर मैं नहीं हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एक ही है। शरीर बदलता है, शरीर के गुणधर्म बदलते हैं लेकिन शरीर के अंदर जो 'मैं' है, शुद्ध 'मैं' है वह कभी बदलता नहीं है। वह सदैव साक्षी रूप में स्थित होता है।' .... और जब इस बात का पता चल जाता है तो वह जरा मरण व्याधि से छूट जाता है क्योंकि उसे शरीर से अपनी अलगता का बोध हो जाता है।

सातवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान कहते हैं-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।

'जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अंतकाल में भी जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष मुझको ही जानते हैं अर्थात् मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

(गीताः 7.30)

जीव भगवान के इस तात्त्विक स्वरूप को अभी जान लें तो बेड़ा पार है ही, लेकिन सुनी हुई बात अंतकाल में भी स्मरण में आ जाये तो भी उसकी सदगति हो जाती है।

स्थूल सृष्टि परमात्मा का अधिभूत रूप है। ये अधिभूत जो दिखते हैं उनमें कार्य तो माया का खेल है लेकिन कारण मालिक का स्वरूप है। ब्रह्मा जी रजोगुण प्रधान हैं। हिरण्यगर्भ... सृष्टि की उत्पत्ति का संकल्प जिस चित्त से होता है, उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्यगर्भ के रूप में संकल्प जहाँ से फुरता है, ब्रह्माजी की आकृति दिखती है, ब्रह्माजी का चित्त दिखता है लेकिन चित्त में संकल्प का स्फुरण करवाने की ताकत उस सच्चिदानंद चैतन्य की है।

आधिदैविक स्वरूपः जो सबमें वास कर रहा है, वह है वासुदेव।

जले विष्णुः थले विष्णुः विष्णु पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वविष्णुमयं जगत्।।

'जल में, थल में, पर्वत में, अग्नि में, पाषाण में सब जगह भगवान विष्णु बस रहे हैं। यह सारा जगत विष्णुमय है।' जो सर्वत्र बस रहा है, उसी का नाम वासुदेव है। वही सबके दिल में बस रहा है। 'सृष्टि का पालन करने का संकल्प उस परमात्मा का है और वही परमात्मा मेरे हृदय में भी है।' इस बात का ज्ञान जो पा लेता है, उसको अगर मरते समय भी यह ज्ञान स्फुरित हो जाये तो वह मुक्त हो जाता है।

नारायण..... नारायण..... नारायण...... नारायण......

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

अदभुत है यह गीताग्रन्थ !

सशरीर स्वर्ग में जाकर शस्त्र ले आने की क्षमता वाले अर्जुन को भी गीता के अमृत के बिना किंकर्त्तव्यविमूढता ने घेर रखा था। गीता माता ने अर्जुन को सशक्त बना दिया। गीता माता अहिंसक पर वार नहीं कराती और हिंसक व्यक्तियों के आगे हमें डरपोक नहीं होने देती। गीता कर्त्तव्य कर्म करवाती है लेकिन कर्त्तव्य में से कर्त्तापने की बेवकूफी हटा देती है। गीता आत्मा-परमात्मा के साथ हमारा ताल-मेल कराकर, संसार को नंदनवन बनाकर आखिर में परमपद पाने का प्रेरक मार्गदर्शन देती है।

और किसी भी ग्रन्थ के लिए भगवान ने यह नहीं कहा कि 'यह मेरा हृदय है' लेकिन गीता के लिए भगवान ने कहा हैः **गीता में हृदयं पार्थ।**

परंपरा तो यह है कि यज्ञशाला में, मंदिर में, धर्मस्थान में धर्म की प्राप्ति होती है लेकिन गीता ने गजब कर दिया ! **धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे ....** युद्ध के मैदान में अर्जुन को धर्म की प्राप्ति करा दी। एकांत अरण्य में, गिरि-गुफा में धारणा, ध्यान, समाधि करने पर योग प्रगट होता है लेकिन गीता ने युद्ध के मैदान में योग को प्रगट किया। होना तो ऐसा चाहिए कि गुरु ऊपर बैठकर उपदेश दें और शिष्य नीचे बैठकर श्रवण करे। शिष्य का चित्त शांत हो और गुरु अपने आप में तृप्त हों... तब तत्त्वज्ञान होता है। लेकिन गीता ने कमाल कर दिया ! युद्धभूमि में हाथी चिंघाड़ रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, दोनों सेनाओं के योद्धा प्रतिशोध की आग में तप रहे हैं, एक दूसरे के खून के प्यासे हैं। किंकर्त्तव्यविमूढता से ग्रस्त मतिवाला अर्जुन रथी के स्थान पर ऊपर बैठा है और गीताकार सारथी के स्थान पर नीचे। नर का सेवक बन कर नारायण रथ चला रहे हैं, नर की आज्ञा मान रहे हैं। कितनी करूणा छलकी होगी उस ईश्वर को अपने सखा अर्जुन व मानव जाति के लिए !

गीता पढ़कर गीताकार की भूमि को प्रणाम करने के लिए केनेडा के प्राईम मिनिस्टर मि. पीअर. ट्रुडो भारत आये थे। जीवन की शाम हो जाये और देह को दफनाया जाय उससे पहले अज्ञानता को दफनाने के लिए उन्होंने प्राईम मिनिस्टर पद से त्यागपत्र दे दिया और एकांत में चले गये। शारीरिक पोषण के लिए दूधवाली गाय और अपने आध्यात्मिक पोषण को लिए उपनिषद और गीता साथ ले गये।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

नन्द के लाल ! कुर्बान तेरी सूरत पर

गीता ने किसी मत-पंथ की सराहना या निन्दा नहीं की अपितु मनुष्य मात्र की उन्नति की बात कही। उन्नति भी कैसी? एकांगी उन्नति नहीं अपित सर्वांगीण उन्नति, भुक्ति और मुक्ति दोनों की सिद्धि कराने वाली उन्नति।

गीता ने थोड़े शब्दों में बहुत सारा ज्ञान बता दिया। युद्ध के मैदान में भी किसी विषय को अछूता न छोड़ा। है तो युद्ध का मैदान फिर भी भगवान तंदरुस्ती की बात भी नहीं भूलेः **युक्ताहारविहारस्य......**

केवल शरीर का ही नहीं मन का स्वास्थ्य भी बताया हैः **सुखं वा यदि वा दुखं...** तथा **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ...** आदि आदि। सुख आये या दुःख, लाभ हो या हानि, जय हो या पराजय, किसी भी परिस्थिति में विचलित न बनो। दुःख पैरों तले कुचलने की चीज है और सुख बाँटने की चीज है।

केनेडा के प्राईम मिनिस्टर मि. पिअर ट्रुडो ही नहीं, ख्वाजा-दिनमोहम्मद ही नहीं, लेकिन कट्टर मुस्लमान की बेटी और अकबर की बेगम भी गीताकार के गीत गाये बिना नहीं रह सकती। वह कहती हैः

सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी।
हूँ तो तुर्कानी लेकिन हिन्दुआनी कहाऊँगी।।
नन्द के लाल ! कुर्बान तेरी सूरत पर।
कलमा नमाज छांडी और देवपूजा ठानी।।
सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी....

अकबर की वह बेगम अकबर को लेकर वृंदावन में श्रीकृष्ण के मंदिर में आयी। आठ दिन तक कीर्तन करते-करते जब आखिरी घड़ियाँ आयीं तब 'हे कृष्ण ! मैं तेरी हूँ और तू मेरा है....' ऐसा कहकर वह श्री कृष्ण के चरणों में सिर टेककर सदा के लिए उन्हीं में समा गयी। तब अकबर बोलता हैः "जो चीज जिनकी थी उसने उन्हीं को पा लिया। हम रह गये..."

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम